संचार माध्यम एवं साहित्य के अन्तर्संबन्ध का विवेचन

'डी० फिल०' उपाधि के लिए शोध प्रबन्ध
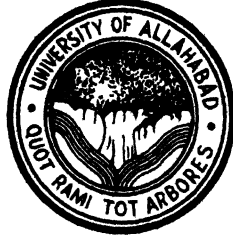
शोधछात्र

योगेन्द्र प्रताप सिंह

निर्देशक

प्रो० योगेन्द्र प्रताप सिंह

पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण है। सूचना विस्फोट के इस युग मे आज का समाज संचार क्रान्ति से आक्रान्त है। संचारमाध्यम समाज से अभिन्न रूप से जुड़ता जा रहा है। संचार माध्यम अब मात्र सूचना-तंत्र का हिस्सा नहीं, अपितु शिक्षा, मनोरजन एवं संदेश का वाहक भी बन गया है, दिन-प्रतिदिन जीवन से ऐसे जुड़ता जा रहा है जैसे संवाद शब्द से एवं लेखन लिपि से। साहित्य स्वयं भी संचार की एक विधा या माध्यम है। अस्तु, सचार को साहित्य से बिल्कुल पृथक करके नहीं देखा जा सकता।

संचार माध्यम का सम्बन्ध विचार व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से है। साहित्य भी अभिव्यक्ति का एक स्वरूप है। जैसे-जैसे संचार माध्यमो का विकास होगा, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की मांग उतनी ही तीव्र होगी और अनछुए प्रसंगों एवं संवेदनाओ की अभिव्यक्ति होगी। फलतः साहित्य अपरिहार्य एवं प्रासगिक होता जाएगा।

साहित्य, कला, संगीत, शिल्प अपनी अन्विति मे संस्कृति की रचना करते हैं। विगत में साहित्य को कला संगीत से सम्बद्ध करके देखा जाता रहा है। सम्प्रति साहित्य की विवेचना का संदर्भ संचारमाध्यम हो गया है। संचारमाध्यम ने एक ओर जहां सभ्य समाज के निर्माण में अपने उत्तरदायित्व को रेखांकित किया है वहीं अपनी भूमिका के कारण प्रश्नचिन्हों से घिरा भी है। जिस प्रकार मुद्रण के अविष्कार ने ज्ञान से समाज के एक वर्ण का एकाधिकार तोड़ा, उसी प्रकार ज्ञान, सूचना व उदात्त मनोरंजन से संचार माध्यमो ने साक्षरो का अधिकार कुछ हद तक तोड़ा है। इस दिशा में इलेक्ट्रानिक माध्यमों की भूमिका महत्वपूर्ण है। किन्तु संचार माध्यमों द्वारा कल्पनाशीलता, सृजनशीलता, बौद्धिकता, संवेदनशीलता और वैयक्तिक वैचारिक संप्रेषणशीलता पर लगाये गये आघात का आरोप भी कुछ हद तक सही है।

संचार माध्यम एवं साहित्य के अन्तर्सम्बन्ध पर इधर व्यापक चर्चा है। लिपि के आविष्कार से लेकर पत्र-पत्रिकाएँ, आकाशवाणी, फिल्म से होते हुए दूरदर्शन तक पहुँचे संचार की विकास यात्रा ने साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। किसी सर्जक व्यक्तित्व का फिल्मीदुनियाँ में प्रवेश जहाँ उसे "साहित्यकार की मौत" की उपाधि से विभूषित होने का अवसर देता है, वहीं दूरदर्शन को कुछ आलोचकों यथा डा. राम स्वरूप चतर्वेदी ने औद्योगिक युग का लोकसाहित्य भी

कहा है। पत्रकारिता अपने प्रादुर्भाव काल मे जन समस्या मात्र से जुडी थी, अपनी विकासयात्रा में आगे चलकर यह विचार एवं सर्जना की वाहक बनी। हिन्दी गद्य के निर्माण में पत्रकारिता ने अहम् भूमिका निभायी है। आधुनिक काल के अधिकांश साहित्यकार प्राय: किसी न किसी समाचार पत्र या साहित्यिक पत्र से सम्बद्ध रहे हैं। अज्ञेय, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि कुछ साहित्यकार आकाशवाणी से जुड़े रहे और उस माध्यम का रचनात्मक प्रयोग जमकर किया। इधर साहित्यिक संस्पर्श की धर्मयुग, सारिका, दिनमान, सा. हिन्दुस्तान सरीखी स्तरीय पत्रिकाएँ, जहाँ धड़ाधड़ बन्द हुई हैं वहीं लघुपत्रिकाओं ने अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त किया है। सूचना विस्फोट से आक्रान्त इस युग में बदलते समाजिक परिवेश और जटिलतर होती संवेदनाओ के कारण साहित्य पर गंभीर उत्तरदायित्व आ पड़ा है। साहित्य के समक्ष खड़ी इन्हीं चुनौतियों ने मुझे इस दिशा मे कार्य करने को प्रेरित किया और मैं इस दिशा मे शोध के लिये प्रस्तुत हुआ। यह मेरा सौभाग्य है कि मेरे शोध का विषय ''संचार माध्यम एवं साहित्य के अन्तर्संबन्ध का विवेचन'' निर्धारित हुआ जो मेरे विषयगत रूचि एवं विचारों के अनुरूप था।

साहित्य की सामाजिक भूमिका है। साहित्य अपने सामाजिक भूमिका मे अनिवार्य रूप से संचार माध्यमों से सम्बन्धित है। समाज की संस्थागत व्यवस्था टूट रही है, परम्पराएं टूट रही हैं, मूल्यों, विश्वासों का आधार बदल रहा है। सचार माध्यमो का इसमे योगदान निश्चित है। इसी से तकनीक का पहलू भी जुड़ा हुआ है। परम्परागत समाज से औद्योगिक समाज की इस विकास यात्रा में संचार माध्यम अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है। सिमटती भौगोलिक दूरियाँ दूर होती मानवीय पारस्परिकता के द्वन्द में आज मनुष्य जी रहा है। मनुष्य से व्यक्ति बनने की यात्रा में नये व्यावसायिक एवं जटिलतर सम्बन्ध बन रहे हैं। इस स्थिति में साहित्य की प्रतिक्रिया एवं उत्तरदायित्व का मूल्यांकन जरूरी है। परिदृश्य के इस प्रकार बदलने से साहित्य की अपनी आन्तरिक बनावट में क्या कुछ परिवर्तन आया है या आ सकता है और ग्रहीता समाज में उसकी क्या भूमिका बदली है, ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न भी आलोच्य शोध में विवेचित हैं।

आलोच्य शोध का उद्देश्य साहित्य एवं संचार माध्यमों की प्रकृति को विवेचित करते हुए उनकी शक्तियों, सीमाओं एवं संभावनाओं को रेखांकित करना है। इन दोनो उत्स से निकलने वाली धाराएँ कहाँ से एक-दूसरे से काटती-अलग होती हुई अपने सामाजिक दाय का निर्वाह करते हुए चल रही हैं या चलेंगी, इसकी भी पड़ताल प्रस्तुत विपय में किया गया है। भापा एवं संवेदना के

स्तर पर संचार माध्यमों ने क्या किया है, इसका मूल्याकन करते हुए सभावना की खोज करना भी हमारा अभिप्राय है जिससे संचार माध्यमों को उनकी शक्ति से अवगत कराने का विनम्र प्रयास हो सके।

मुद्रण से प्रतिकृति निर्माण व मौखिक साहित्य सुरक्षित रखा जा सकता है तथा संचार माध्यमों से साहित्य जनसुलभ हो सकता है। अधुनातन तकनीक के प्रयोग से कल्पना को दृश्य बनाकर अधिक यथार्थ अभिव्यक्ति की जा सकती है। अतः वैज्ञानिक अनुसंधान एवं तकनीकी अविष्कारों से केवल पल्लू झाड़ने से काम न चलेगा। आने वाला समय सूचना विस्फोट का उत्तर युग है। इसमें संचार माध्यम मात्र सूचना संवाहक नहीं होंगे अपितु इसके भी आगे समाजिक दायित्व का निर्वहन करेंगे। इनकी सीमाओं एवं संभावनाओ का मूल्याकन करते हुए साहित्य को भी बदलते परिवेश में अपने गुरूत्तर दायित्व का निर्वाह करना पड़ेगा तथा संचार माध्यमो को भी अपनी सर्जनात्मक शक्ति एवं सीमाओं को पहचान कर सच्चे अर्थो मे लोकसंचार माध्यमों की तरह जीवन से गहरे जुड़ना पड़ेगा। सैकड़ों वर्षो के श्रमसाध्य अनुसंधान का अभिनन्दन करते हुये संचार माध्यमों की भौड़ी एवं ओछी अपसांस्कृतिक हरकतो को अस्वीकार करते हुए समाज की नस पर हाथ रखकर साहित्य को लिपि के अतिरिक्त स्क्रीन पर उतारने की भागीरथ अकांक्षा भी इस शोध में अनुस्युत है। पत्रकारिता, फिल्म, आकाशवाणी आदि संचार माध्यमों ने साहित्य के स्वरूप व शिल्प को किस प्रकार प्रभावित किया है, इसके मूल्यांकन का प्रयास किया गया है।

विषय के अध्ययन एवं विवेचन में लोक एवं शास्त्र दोनों से संदर्भ ग्रहण करने का प्रयत्न समाहित है। इसलिए शास्त्रोचित विवरण के साथ मीडिया एवं साहित्य के संधि पर खड़े मीडिया विशेषज्ञों, साहित्यकारों आदि से लिये गये संवादों से संदर्भ ग्रहण किया गया है। साक्षात्कार की इस प्रश्नोत्तरी में जिज्ञासा भी है और संवाद भी, इससे भी विषय मे सहयोग मिला है विषय प्रतिपादन में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टियो के साथ जहाँ तक हो सका है सर्वेक्षणात्मक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी विवेचन का प्रयास किया गया है। प्रथम अध्याय में संचार माध्यमों का संक्षिप्त परिचय देते हुए अंतिम अध्याय 'सृजन एवं सम्प्रेपण: साहित्य एवं माध्यम' में विषय का उपसंहारात्मक समाहार किया गया है।

इस कार्य में मुझे अपने शोध निदेशक एवं श्रद्वेय गुरुवर प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी के मार्ग दर्शन से शोधपरक आलोचनात्मक दृष्टि नहीं मिली होती तो शायद यह

कार्य इस रूप में संभव न हो पाता। वैसे श्रद्धेय मा मालती देवी, बडे भाई डॉ डी पी सिंह, श्री रवीन्द्र प्रताप सिंह एवं श्री राजीव गुप्ता के स्नेह एवं संबल के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति को अपनी ही प्रशंसा समझता हूँ। अभिभावक स्वरूप श्रद्धेय आर पी गोयल, महाधिवक्ता उ.प्र. एवं आंटी मालती गोयल का मैं अत्यंत ऋणी हूँ जिनके स्नेह ने मुझे सदैव उत्साहित किया है। मैं अत्यंत अभारी हूँ डॉ. सदानन्द गुप्ता, उपाचार्य, गोरखपुर विश्वविद्यालय, डॉ. सुरेन्द्र दूबे, उपाचार्य गोरखपुर विश्वविद्यालय एवं श्री हरि मोहन मालवीय, अध्यक्ष हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद का जिनकी गुरूपद छाया में मैंने शोध का ककहरा सीखा।

मीडिया और साहित्य के कुछ मनीपियो यथा श्री सुधीश पचौरी (मीडिया विशेषज्ञ), श्री नरेन्द्र कोहली (उपन्यासकार एवं व्यंग्यकार) डॉ. कमल किशोर गोयनका (दिल्ली विश्वविद्यालय), डॉ. रामशरण जोशी (नई दुनियाँ), श्री अच्युतानंद मिश्र (जनसत्ता), श्री विष्णु नागर (हिन्दुस्तान), डॉ. अवध नारायण मुद्गल (सारिका), श्री मंगलेश डवराल (जनसत्ता), श्री जगदीश उपासने (इंडिया टुडे), श्री सुभाष सेतिया (आजकल), श्री लिक्ष्मीशंकर बाजपेयी (आकाशवाणी), श्री श्रीश मिश्रा (जनसत्ता), श्री अशोक कुमार (इंडिया टुडे), श्री सूर्य कान्त बाली (जी न्यूज एवं न.भा.टा.) आदि का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनसे जो स्नेह एवं सानिध्य सुलभ हुआ जो मुझ अकिंचन के लिए अत्यंत आह्लादकारी एवं प्रोत्साहक था। अंतत: कुछ उन मित्रों जैसे श्री अरविन्द श्रीवास्तव एवं श्री अरुण कांत त्रिपाठी को कैसे भूल सकता जिनके सहयोग के बिना यह अभियान अधूरा रह जाता।

योगेन्द्र प्रताप सिंह
15/2 शिवनगर कालोनी,
भरद्वाजपुरम, इलाहाबाद।

अनुक्रम

अध्याय - एक

संचार माध्यम

अध्याय - एक

संचार माध्यम

किसी से संवाद, वार्तालाप मे सहभाग, सम्भाषण, पत्र-पत्रिकाएं पढ़ना, 'आकाशवाणी' के कार्यक्रम सुनना एवं दूरदर्शन, फिल्म, ड्रामा देखना आदि हमारे जीवन में व्यवहृत विविध प्रकार के संचार हैं। संचार की किसी एक निश्चित परिभाषा से संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता है। संचार की अनेक परिभाषाएं दी जा सकती हैं, आक्सफोर्ड डिक्सनरी मे संचार को 'अर्थ या आशय का अन्तरण' कहा गया है। कोलिन सिद्धान्त के अनुसार 'संचार उत्तेजना का प्रसारण है'। क्लाड मेनन के विचार से 'संचार दूसरेको प्रभावित करता हुआ एक मन है' चार्ल्स ई. आशगुड ने 'इसे एक निकाय कहा है जो दूसरे को प्रभावित करता है'। विल्वर स्क्रैम की दृष्टि में यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव सम्बन्ध स्थापित और विकसित होता है अथवा उभयनिष्ठता के आधार पर अनुभवों की साझेदारी है। यदि हम गौर करें तो कह सकते हैं कि हम अपने विचारों, भावनाओ, आदि को अन्य व्यक्तियों के साथ भौतिक, भावानात्मक या अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सतत आदान-प्रदान करते हैं। यह भी एक प्रकार से संचार है। वस्तुतः संचार हमारे जीवन का अभिन्न भाग है। यह केवल स्थैतिक क्रिया नहीं है अपितु किसी लक्ष्य प्राप्ति हेतु गत्यात्मक प्रक्रिया है। इस प्रकार संचार कुछ निश्चित चिह्नों या प्रतीकों द्वारा दो या दो से अधिक व्यक्तियों में धारणा, सूचना, ज्ञान, भंगिमा, अथवा भावनाओं की साझेदारी अथवा उनका आदान-प्रदान है।[1]

जनसंचार माध्यम एवं संचार साधन

संचार मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी करते हैं किन्तु उनकी भाषा में विकसित ध्वन्यात्मक प्रतीकों की बजाय कुछ अन्य तत्व महत्वपूर्ण होते हैं यथा, उनमें कुछ शारीरिक ग्रंथियों द्वारा जैवरसायनों का स्राव, अंग संचालन अथवा उनके द्वारा उच्चरित कुछ विशेष ध्वनियाँ। इस प्रकार से उनमें आवश्यक संदेशों का आदान-प्रदान संभव है। किन्तु विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है। जीव व जगत् में मानव अपने आपको एक विशिष्ट और उच्चकोटि का प्राणी मानता है। यह उसका

---

1 Communication is, therefore, a process of sharing or exchange of ideas, information, knowledge, attitude or feeling among two or more persons through certain signs and symbols

Introduction to communication, published by IGNOU, page-8,

दंभ नहीं है क्योंकि उसकी कई क्षमताएँ अद्वितीय हैं। वह विचार कर सकता है, अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकता है और उसने के कई ऐसे साधन विकसित कर लिए हैं जो उनके विचारों और चिंतन को स्थायित्व दे सकें। ये योग्यताएँ किसी अन्य प्राणी में नहीं है। इसी कारण मानव स्वयं अपने आपको मेधावी कह सकता है। संदेश दे और ले सकने की क्षमता ने मानव को सामाजिक अंतर्सम्बन्धों का एक विशेष स्वरूप दिया है। इस क्षमता का विकास मानवीय सम्बन्ध के क्षेत्र को विस्तारित और पुष्ट करता है। विचारों को स्थायित्व दे सकने की योग्यता जिस गति से विकसित होती गई, उसी गति से उसकी संस्कृति की विविधता और जटिलता भी बढ़ती गयी।[2] इस दृष्टि से भाषा वह प्रथम माध्यम बना जो संवाद एवं विचारो की सुरक्षा का दायित्व वहन सिद्ध करने मे मील का पत्थर साबित हुआ।

भाषा के विकास से मनुष्य का सामाजीकरण तीव्र हुआ है। भाषा की मौखिक संस्कृति ने मानव जीवन के आयामों को बदल दिया है और परम्परा को स्थायित्व देने में आश्चर्यजनक सफलता पायी है। मौखिक परम्परा ने न केवल लोक साहित्य को जीवित रखा, उसने शास्त्रीय साहित्य को भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है। यह क्रम कई पीढ़ियों तक चलता रहा। लिपि के आविष्कार के बाद स्थायित्व का माध्यम बदल गया, यद्यपि स्मरण शक्ति की भूमिका इस स्थिति में भी महत्वपूर्ण रही। शब्द प्रतीक होते हैं। उन्हें मौखिक से लिखित रूप देना मनुष्य की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। मनुष्य की तीक्ष्ण और केन्द्रित हो सकने वाली दृष्टि, उसके अँगूठे की रचना तथा अँगूठे व शेष उँगलियों के सहयोग से लिपि का आविष्कार और प्रचलन संभव हो पाया। लिपि ने मौखिक भाषा का स्थान नहीं लिया, केवल उसे विस्तारित किया।[3] लिपि का आविष्कार संचार के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसने मनुष्यों के संवाद के एक भिन्न आयाम को उद्घाटित किया। लिपि विहीन भाषाओं ने ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का वहन किया था, उनमें साहित्य के विभिन्न रूपों की रचना हुई थी और सूक्ष्म दार्शनिक चिंतन भी किया गया था। उस साहित्य को स्थायित्व देने में कठिनाइयाँ थी। लिपि ने उन्हें बड़ी मात्रा में दूर किया। पत्तों, मिट्टी की पतली ईंटों, पत्थर, चमड़े, वस्त्र आदि पर लिखकर मनुष्य ने अपने संचित ज्ञान को आने वाली पीढ़ियो के लिए बचाने का यत्न किया। लिपि एक रहस्यमय और चमत्कारी शक्ति थी जिस पर अधिकार रखने वाले थोड़े से लोगों को समाज में ऊँचा स्थान मिला।[4] यह लिपि के विकास का प्रथम चरण था। इसके अगले चरण में इस लिपि ज्ञान से सम्बन्धित उपरोक्त कुछ

---

2 परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, श्यामाचरण दूबे, पृष्ठ 97

3 वही पृष्ठ 102

4 परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, श्यामाचरण दूबे, पृष्ठ 103

लोगो का एकाधिकार टूटा और **लिपि के ही माध्यम से ज्ञान** का व्यापक प्रसार बेरोक-टोक हुआ। लिपि के आविष्कार से दूसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि पहले ज्ञान जहाँ दो व्यक्तियो के बीच मौखिक रूप मे ही सचरित होता था वहीं अब वह पुस्तक रूप मे एक पीढी से दूसरी पीढी तक सीधा पहुँच सकता था।

संचार के विविध प्रकार

कालान्तर मे कागज के आविष्कार एवं तदनन्तर मुद्रण के प्रादुर्भाव से एक नवीन क्रान्ति का अभ्युदय हुआ जिससे ज्ञान को क्लास (वर्ग) से मास (जनसमूह) में अबाध सक्रमित होने का अवसर मिला। आधुनिक शब्दावली मे इसे ज्ञान का लोकतांत्रीकरण कह सकते है। इस अवस्था मे सचार मे अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। जहाँ पहले अन्तर्वैयक्तिक (Interpersonal) संचार के लिए लोगो को मेले, सभा, आदि के रूप में एक साथ एकत्रित होना आवश्यक था, वही मुद्रण के प्रचलन मे आने से प्रतिलिपि निर्माण मे सुविधा मिली एव एक साथ कई व्यक्तियों से एक स्थान पर एकत्रित हुए बिना सामूहिक रूप से जनसंचार कर सकना संभव हुआ। यही वह काल है जहाँ से आधुनिक अर्थो में पत्र-पत्रिकाओ के रूप मे जनसचार माध्यम के विकास का सूत्रपात हुआ। इसके पूर्व केवल अन्तर्वैयक्तिक संचार (Interpersonal communication) एव समूह सचार (group communication) ही संभव था। पत्रकारिता के प्रादुर्भाव से जनसंचार (Mass communication) की अवधारणा संभव हो सकी। परवर्ती काल में तार, टेलीफोन, मोबाइल आदि अन्तर्वैयक्तिक सचार के साधन तथा ध्वनि विस्तारक यंत्र एवं क्लोज सर्किट टीवी आदि समूह सचार के साधन विकसित हुए जबकि जनसंचार माध्यमो के रूप मे रेडियो, टेलीविजन एव सम्प्रति इन्टरनेट आदि का विकास हुआ। अन्तर्वैयक्तिक (Interpersonal) एवं सामूहिक संचार की तुलना मे जनसचार (Mass Communication) की भूमिका क्रान्तिकारी रही है।

संचार माध्यम

अन्तर्वैयक्तिक सचार, सामूहिक संचार तथा जनसचार में अन्तर है। अन्तर्वैयक्तिक एवं सामूहिक संचार में प्रत्यक्ष संवाद एवं संचार होता है। इसमे कोई यांत्रिक साधन है भी तो उसकी मात्र सहयोगी भूमिका होती है। जबकि जनसंचार माध्यम के लिए तकनीकी साधन अथवा चैनल की आवश्यकता होती है।-ये चैनल ही माध्यम का रूप ले लेते है। ये माध्यम कई बार इतने महत्वपूर्ण हो जाते है कि संचार विशेषज्ञ मार्शल मैकलुहान को कहना पड़ा कि 'मीडियम इज द मैसेज।' कोई भी यात्रिक साधन जो संदेश को बहुगुणित कर देता है और एक साथ बहुत से लोगो तक उसे पहुँचा देता

है, उसे जन सचार माध्यम कहते है। जनसचार माध्यमो मे श्रोताओ, पाठको अथवा भावको की प्रतिक्रिया अथवा पुनर्निवेशन (Feedback) अपेक्षाकृत देर मे मिलती है एवं मँहगी होती है। इसका कारण श्रोता एवं स्रोत के बीच चैनल या माध्यम की उपस्थिति है, जबकि अन्य दोनो प्रकार के संचार मे प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष मिल जाती है।

अन्तर्वैयक्तिक एव सामूहिक सचार मे उपयोग आने वाले दूरभाष, फैक्स, इ-मेल, मोबाइल, वायरलेस, माइक आदि सभी सचार साधन है। सचार माध्यम (Mass Media)एवं संचार साधन मे अन्तर स्पष्ट होना चाहिए। संचार साधनो की एक विशिष्ट व्यवस्था जिसमे सदेश एक साथ अधिसंख्य दर्शको, श्रोताओ, पाठको आदि तक सम्प्रेषित होता हैं जनसचार माध्यम कहा जाता है। जनसंचार माध्यम कहने से हमारे समक्ष समाचार पत्र, आकाशवाणी, दूरदर्शन, फिल्म आदि का चित्र स्पष्ट हो जाता है। जनसंचार माध्यमों का उद्देश्य जनता को सूचना प्रदान करना, शिक्षित करना, एव मनोरजन प्रदान करना आदि है। माध्यम क्रान्ति से उत्पन्न सूचना विस्फोट के वर्तमान की युग मे विट्स (कम्प्यूटर स्मृति एवं संचार की क्षमता) ही शक्ति का मापक हैं। इस दवाव मे शिक्षा का स्वरूप भी आज सूचनात्मक हो गया है। कार्यपालिका, न्यायपालिका एव विधायिका की तरह संचार माध्यम भी लोकतंत्र की पूर्वापेक्षा है। इसकी महत्ता के कारण ही इसे लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ कहते हैं।

माध्यमों की भूमिका एवं प्रभाव

सूचना, शिक्षा एव मनोरंजन मे इन माध्यमो की प्रभावी भूमिका है। साहित्य से इसी बात में इसकी होड़ भी है। शिक्षा विस्तार मे इसके महत्व को देखते हुए अनौपचारिक शिक्षा के लिए इसको व्यापक रूप से अपनाया जा रहा है। इसके सामाजिक उत्तरदायित्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि ''जनसंचार अपने विभिन्न रूपों एवं प्रभावो द्वारा सामूहिक विवेक उत्पन्न करता है। यह सामूहिक विवेक व्यापक सहमति को जन्म देता है। व्यापक सहमति सामूहिक प्रयास की जननी होती है जिससे आज के समाज की सत्ता एवं जीवन प्रणालियाँ निर्धारित, विकसित एवं परिचालित होती है। संचार साधनों द्वारा प्रचारित नई सूचनाओं से समाज के मानसिक क्षितिज का विस्तार होता है, समाज मे नई आशाएँ, नई आकांक्षाएँ, उत्पन्न होती हैं। नई अभिरुचियों, समस्याओं के नए बोध प्रकट होते हैं, प्रयोग और शुद्धिकरण की प्रवृत्ति जागृत होती है। आज के सामाजिक विकास का मुख्य अभियंता संचार (जनसंचार माध्यम) ही कहला सकता है।''[5]

---

5 भारतीय प्रसारण : विविध आयाम, डॉ मधुकर गंगाधर, पृष्ठ 18

जनसंचार माध्यम शब्द भले ही नया हो किन्तु भारत मे जनसचार की अवधारणा अत्यंत प्राचीन है। भारतीय पौराणिक साहित्य मे इसके ढेरो उदाहरण मिलते है। संजय महाभारत में सम्भवत: दूरदर्शन जैसे ही किसी माध्यम से धृतराष्ट्र के ममीप बैठकर उन्हे युद्ध के 'लाइव टेलीकास्ट' का वर्णन सुनाते है। पौराणिक साहित्य मे आकाशवाणी की अनेक घटनाएँ मिलती है। कंस को देवकी पुत्र द्वारा अपनी हत्या की संभावना का समाचार आकाशवाणी से ही मिलता है और उस समय का आकाशवाणी निष्पक्ष एवं निर्भीक समाचारो को देने में आज से ज्यादा संभव रहा होगा जो कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है। ये घटनाएं प्राचीन भारत में आधुनिक संचार माध्यमो की तरह सूचना संचार तंत्र के उपस्थिति का संकेत भर देती हैं। किन्तु यह निर्विवाद है कि भारत मे परम्परागत रूप से समूह संचार ही अपनाया जाता रहा है जिसमें मेले, सभा, तीर्थाटन आदि के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर संचार संभव था। यह एक संचार तंत्र के रूप में भारत की अद्वितीय विशेषता रही है जिसके कारण उत्तर भारत मे रचित रामचरित मानस अखिल भारतीय जनमानस तक पहुँच मका तथा सुधारात्मक आयाम लिए दक्षिण भारत का भक्ति आन्दोलन धुर उत्तर के धरती तक पहुँच सका। यद्यपि लोकनाट्य के रूप मे प्राचीन भारत में जनसंचार माध्यम उपस्थित था तथापि आधुनिक काल मे पत्र-पत्रिकाओ के साथ नवीन प्रकार के जनसंचार का प्रचलन शुरू हुआ जो फिल्म, रेडियो, टेलीविजन से होकर आज के द्रुतगामी इण्टरनेट सेवा तक आ पहुँचा है। इन माध्यमों ने युगान्तरकारी परिवर्तन स्थापित करते हुए सम्पूर्ण विश्व को गाँव में बदल दिया हैं।

इन संचार माध्यमों की समाज में प्रभावी भूमिका के कारण आज ग्लोबल विलेज में सूचना के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में स्थान मिल रहा है और सुदूर पिछड़े अंचल में भी इन माध्यमों की अनिवार्यता महसूस की जा रही है। आज इन माध्यमों के अभाव को पिछड़ेपन का प्रतीक माना जा रहा है जब ये संचार माध्यम समाज के लिए अपरिहार्य हो गए और सांस्कृतिक संदर्भ में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध होने लगी है तो इनका साहित्यिक-सांस्कृतिक संदर्भ में विवेचन जरूरी हो जाता है।

संचार के उपरोक्त तीन तरीकों यथा अन्तर्वैयक्तिक संचार, समूह संचार एवं जनसंचार में हम अपने विवेचन के लिए जनसंचार माध्यमों को ही लेंगे। लोकनाट्य एवं फिल्म जो कि समूह संचार एवं जनसंचार माध्यम के बीच की कड़ी है इनको भी विवेचन का आधार बनाना होगा। जनसंचार माध्यम को संक्षेप में जनमाध्यम (Mass Media) या केवल माध्यम (Media)भी कह सकते हैं। अत: माध्यम मात्र लिखने का तात्पर्य भी जनसंचार माध्यम ही होगा। जन संचार माध्यम के निम्न प्रकारों की गणना कर सकते हैं जिनके क्रम संचार माध्यमों के विकास क्रम को भी सूचित करते हैं।

(1) परम्परागत लोक माध्यम (2) प्रिन्ट मीडिया (3) फिल्म

(4) इलेक्ट्रानिक माध्यम

(क) रेडियो (ख) टी वी (ग) डिजिटल माध्यम

परम्परागत लोक माध्यम : प्रथम संचार माध्यम

जनसंचार का शास्त्र अपेक्षाकृत नया है। जनसंचार के कुछ शास्त्रज्ञ मुख्य रूप से जनसंचार को दो वर्गों में विभक्त करते हैं— (1) प्रिन्ट मीडिया और (2) इलेक्ट्रानिक मीडिया। प्रिन्ट मीडिया प्राचीन है और इसका इतिहास लगभग पाँच सौ वर्षो का है जबकि इलेक्ट्रानिक मीडिया बीसवीं सदी के तकनीकी क्रान्ति की उपज है।[6] इस तकनीकी क्रान्ति के पूर्व भी लोकमाध्यमों की समृद्धिशाली परम्परा रही है। किन्तु तकनीकी विकास के साथ-साथ इन माध्यमों की आभा धूमिल होने लगी है। जनसंचार की दृष्टि से भारत में प्राचीन परम्परागत नाट्य और आंचलिक एवं जातीय लोकमाध्यमों का विशेष महत्व रहा है। मनोरंजन के साथ ये मूल्यो के विकास एवं संदेश-विशेष को जनसमुदाय तक सम्प्रेषित करने के सशक्त माध्यम रहे हैं। संचार के अन्य माध्यम समाज के केवल विशिष्ट वर्ग तक सीमित रहे हैं किन्तु लोकमाध्यम दूरवर्ती निरक्षर एव अभावग्रस्त समाज को भी भावों से भरने में पूर्ण समर्थ रहे हैं। आरोपित तकनीकी विकास के कारण कुछ हद तक ये माध्यम ह्रासमान हुए और म्यूजियम की सम्पत्ति मात्र बनकर रह गए। किन्तु अन्य तकनीकी माध्यमों की सीमाओ को देखते हुए संचार की प्रभावी भूमिका बढाने के लिए सभी माध्यमों के बहुआयामी दृष्टिकोण को अपनाया जा रहा है। इससे परम्परागत लोक माध्यमों की भूमिका नि:सदेह बढ जाती है।

वस्तुत: इनको सचेत एवं सुविचारित रूप मे प्रयोग किया जाए तो यह माध्यम विकास के लिए महत्वपूर्ण एवं प्रभावी साधन सिद्ध हो सकता है। विगत चार-पाँच दशको से बिना सांस्कृतिक जड़ों से हटे ये क्रियात्मक आयाम को उद्घाटित किए हैं। देशी-नाटक परम्परागत संस्कृति को आहत किए बिना अपने मूल गुणों के साथ नवीन संदेशों को सम्प्रेषित करने मे उपयुक्त सिद्ध हुए हैं।[7] इसी के साथ

---

6 Introduction to Communication, published by IGNOU, New Delhi, page—16.

7 "When handled with care and consideration, the sensitive folk media have proved themselves to be meaningful and effective tools of communication for development During the past four or five decades they have slowly aquired a functional dimension without losing their cultural roots. The rural drama, with its stock

संरक्षण एवं प्रोत्साहन की भावना से प्रेरित होकर इनके कलाकार या तो अपनी अस्मिता के प्रति सचेत हुए हैं या कुछ बदलाव के साथ इसे पुनर्जीवित करने का प्रयास कर रहे हैं। लोकमाध्यम एवं लोकनाट्य से प्रेरणा ग्रहण कर पारसी थिएटर के प्रभाव में आधुनिक रंगमच का विकास हुआ। फिल्म, दूरदर्शन एवं आकाशवाणी के प्रभाव से रंगमच का प्रभामण्डल कुछ निस्तेज जरूर हुआ किन्तु अस्मिता जागरण, संरक्षण एवं इनके प्रति मिशनरी संगठनों के प्रयास से अभी भी ये जीवत और जागृत हैं। अत: विवेचना में परम्परागत लोकमाध्यम की अनदेखी नहीं की जा सकती है। और तो और शास्त्रीय आधार पर भी लोकनाट्य प्रथम संचार माध्यम रहा है तथा भरतमुनि का नाट्यशास्त्र प्रथम माध्यम शास्त्र रहा है। भारतीय समाज बहुत हद तक अभी भी परम्परागत जीवन मूल्यों से ही प्राण वायु पाता है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य के समक्ष विकास की विराट सभावनाओं के द्वार खोले हैं। किन्तु जनमानस में इन परम्पराओं की जड़ें गहरी हैं। वह पूर्ण रूपेण इनसे मुक्त नहीं हो सका है। इन पारंपरिक माध्यमों में मनुष्य की उत्सवधर्मिता आज भी जीवंत है। दूसरा यह कि देश का अधिकांश भाग अभी भी आधुनिक जनसंचार माध्यमों की पकड़ के बाहर है। खासकर पूर्वोत्तर राज्यों में जहाँ सूरज जल्दी ढलता है, वहाँ के निवासियों की दिनचर्या से दूरदर्शन व आकाशवाणी के कार्यक्रमो का समयानुकूल साम्य नहीं है तथा वहाँ तक समाचार पत्र या पत्रिकाओं की पहुँच नहीं है। इसके लिए बहुत हद तक आर्थिक अभाव भी जिम्मेदार है। निरक्षर समाज की आँखे अक्षर-संसार मे छिपी सभावनाओ से काफी दूर हैं। अस्तु, समाज के इन भागों में परम्परागत माध्यम ही प्रासगिक है।

भारत की वर्तमान संचार स्थिति के अवलोकन से हम पाते है कि जनसंचार के कार्यक्रम और विषय-वस्तु मुख्यत: नगरों और समृद्ध वर्ग की अभिरुचि को ध्यान में रखकर तैयार किए जाते हैं तथा सूचना और विश्लेषणात्मक कार्यक्रमों में स्थानीय व क्षेत्रीय मुद्दो की बजाय अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय विषयों पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त भारत में अन्य देशों की तुलना में आधुनिक जनसंचार माध्यमों का विस्तार अभी भी अधूरा है। अत: परम्परागत लोक माध्यमों को भी उपयुक्त स्थान मिलना चाहिए।

---

characters, has also carried across modern messages, without, in any way hurting the community's traditional culture".

Orgin and development of Mass Media in India, published by IGNOU New Delhi.

प्रिंट मीडिया

समाचार पत्र जनता की संसद होती है जिसका अधिवेशन सदा चलता रहता है।[8] समाचार पत्रों का स्वरूप व्यापक तथा बहुआयामी होता है। पत्रकारिता जन समस्याओ से जुड़ी होती है। इस पर वह सरकार एवं सम्बन्धित पक्ष का ध्यानाकर्षण करती है, समस्याओ पर रचनात्मक बहस कर समाधान की पृष्ठभूमि तैयार करती है। प्रत्येक पत्रिका का एक निश्चित पाठक वर्ग तथा उसका संदर्भ क्षेत्र होता है। दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक अथवा वार्षिक संस्करण वाली पत्रिकाएँ विभिन्न भाषाओं में अपना जाल बिछाए हैं। फोटोग्राफी एवं मुद्रण की विकसित तकनीकों के प्रयोग से ये पत्रिकाएँ नित-नूतन छटा बिखेर रही है। इन पत्रिकाओं की समाज में महती भूमिका है। जनमत निर्माण में इनका विशेष योगदान है। इन पत्र-पत्रिकाओ का साहित्य से प्रत्यक्ष सरोकार है। कुछ पत्र-पत्रिकाएं पूर्ण रूपेण समाचार प्रकाशित करती हैं, कुछ स्वभाव में साहित्यिक हैं तो कुछ इस दृष्टि से मध्यम मार्गी हैं।

साहित्य की भाँति पत्रकारिता भी समाज की विभिन्न गतिविधियों का दर्पण है। समसामयिक घटनाचक्र का शीघ्रता में लिखा गया इतिहास पत्रकारिता कहा जाता है।[9] पत्रो की स्थान-मान वृद्धि के साथ पत्र से पत्रकारिता का जन्म हुआ, एक कला और साथ ही एक विज्ञान के रूप में। यहीं पत्रकारिता के उस आदर्श और दायित्व की नींव पड़ी जिसने पत्र और पत्रकारिता को चतुर्थ सत्ता का आसन प्रदान किया।[10]

हजारों वर्ष पूर्व ज्ञान, सूचना एवं समाचार के वाहक मुद्रित शब्द का प्रादुर्भाव चीन, जापान और कोरिया में हुआ। व्यावसायिक एवं व्यापक तकनीक स्तर पर इसका अनुप्रयोग यूरोप में गुटेन वर्ग द्वारा विकसित धात्विक चल टाइप मशीन के आविष्कार के साथ हुआ। भारत मे मुद्रण गोवा में 1556 में प्रारम्भ हुआ। इस कला के विकास के साथ पत्रकारिता का भविष्य भी जुडा हुआ था। भारत में पत्रकारिता की शुरूआत के अंग्रेजी समाचार पत्र 'बंगाल गजट' से हुई जो कलकत्ता से प्रत्येक शनिवार को प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक पत्र था। यद्यपि प्रथम भारतीय भाषा में प्रकाशित समाचार पत्र बंगाली में कुछ समय के लिए दिखा फिर भी अबाध रूप से भारतीय भाषा में समाचार पत्र के प्रकाश की

---

8 पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम , संजीव भानावत, पृष्ठ 4

9 पत्रकारिता का इतिहास और जनसंचार माध्यम, संजीव भानावत, पृष्ठ 1

10 पत्रकारिता : संकट और संत्रास-हेरम्ब मिश्र, पृष्ठ 1

शुरुआत राजा राम मोहन राय ने की जो भारतीय भाषाई पत्रकारिता के जनक भी कहे जाते हैं।[11] कलकत्ता से प्रकाशित एवं पंडित युगुल किशोर शुक्ल द्वारा संपादित उदंत मार्तण्ड (1826 ई.) हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र है।

चलचित्र

पत्रकारिता के बाद अगले संचार माध्यम के रूप में फिल्म की शुरुआत 7 जुलाई सन् 1896 ई. को हुई जब फ्रांस के ल्यूमिअर बन्धुओ ने बम्बई के वाटसन होटल मे पहली बार फिल्म प्रदर्शन किया। इस फिल्म प्रदर्शन की सफलता से प्रभावित होकर जनवरी 1897 से विदेशी फिल्मों के प्रदर्शन का सिलसिला भारत में प्रारम्भ हो गया। हरिश्चन्द्र भाटवाडेकर प्रथम भारतीय फिल्म निर्माता के रूप में उभरे।

भारतीय कथानक पर आधारित पहली फिल्म पुण्डलीक थी जिसे आर जी तोरणे ने एन सी. चित्रा के सहयोग से तैयार किया था। सबसे पहले यह फिल्म 18 मई 1912 ई. को बम्बई में प्रदर्शित हुई। यह फिल्म महाराष्ट्र के एक संत पुण्डलीक के जीवन पर आधारित थी। भारतीय चलचित्र के इतिहास में दादा साहब फाल्के का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हे भारतीय फिल्मों का पिता कहा जाता है।[12] सन् 1930 में भारतीय फिल्मों में संगीत का प्रयोग शुरू हुआ और 1931 से सवाक् फिल्में निर्मित होने लगीं। मृणाल सेन के 'भुवनसोम' से कला फिल्मों की शुरुआत हुई जिसे 'समानान्तर सिनेमा', 'नया सिनेमा' अथवा 'न्यू वेव फिल्म' के नाम से जाना जाता है।

इलेक्ट्रानिक माध्यम - रेडियो, टेलीविजन

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मैक्सवेल, हट्र्ज और मारकोनी के अथक प्रयासों से विद्युत चुम्बकीय तरंगों और रेडियो संचार का आविष्कार हो चुका था। इलेक्ट्रानिकी के अन्य जटिल आविष्कारों ने आधुनिक संचार माध्यमों की आधारशिला रखी। प्रारम्भ में विज्ञान के इन आविष्कारों का इस्तेमाल तूफानों में फँसे नाविक प्राय: अपनी सुरक्षा की पुकार अन्य लोगों तक पहुँचाने के लिए करते थे। मानव धीरे-धीरे इनके उपयोग की अन्य विधियाँ भी सोचने लगा। ध्वनि तरंगों को पुन: विद्युत चुम्बकीय तरंगों में तथा विद्युत तरंगों को ध्वनि तरंगों में परिवर्तित करके अनेक प्रयोग किए जाने लगे।

---

11 Elements in Mass Media, published by IGNOU, page 6

12 History of Journalism & Media of Mass Communication by Sanjeev Bhanavat, page. 174.

इसी बीच प्रथम विश्व युद्ध छिड़ा और रेडियो के विकास मे अपेक्षाकृत अधिक तेजी आई। ध्वनि की तरगें युद्ध के दौरान गुप्त सूचनाओं से लेकर प्रोपेगंडा तक का माध्यम बनीं। 1916 ई० में विश्व का प्रथम रेडियो समाचार प्रसारित हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के चुनाव के बारे में सूचना थी। समाचार पत्रों के छपने से कई घण्टे पूर्व यह खबर ध्वनि तरगो पर चढ़कर आग की तरह फैल गई। लोगों के मन में पहली बार एहसास हुआ कि यह माध्यम तो मुद्रण माध्यम से कई घण्टे पहले खबर दे सकता है तो क्यों न इसका उपयोग खबरो के प्रसारण के लिए किया जाए? 1919 ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका में एक निगम स्थापित किया गया, नाम रखा गया था—रेडियो कार्पोरेशन ऑफ अमेरिका। अब इस रेडियो निगम के लिए प्रसारण केन्द्र की भी आवश्यकता महसूस हुई। शीघ्र ही इस्ट पीट्स वर्ग में 'रेडियो ब्राडकास्टिंग' की स्थापना हुई और इस प्रकार 21 दिसम्बर 1922 को विश्व के प्रथम रेडियो प्रसारण ने जन्म लिया।[13] इन्हीं दिनों ब्रिटेन मे भी 1922 मे एक प्रसारण कम्पनी की स्थापना की गई जिसका नाम 'ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशनर' रखा गया।

भारत में रेडियो के प्रसारण का प्रारंभिक प्रयास जून 1923 मे शुरु होता है जब निजी स्तर पर बम्बई में रेडियो क्लब की स्थापना की गई।[14] इसके बाद भारत सरकार एवं निजी कम्पनी इण्डिया ब्राडकास्टिंग कम्पनी के समझौते के फलस्वरूप ब्राडकास्टिग सेवा की स्थापना की गई जिसने प्रायोगिक तौर पर बम्बई में जुलाई 1927 से प्रसारण शुरू किया और कुछ महीनों बाद कलकत्ता से प्रसारण प्रारम्भ हुआ।[15] इसी के साथ द्रुतगामी इलेक्ट्रानिक माध्यमो की शुरुआत हुई जो दूरदर्शन से होते हुए अद्यतन इण्टरनेट तक आ पहुँचा है। सूचना और प्रसारण मंत्रालय के 1997-98 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार "देश में इस समय (15 दिसम्बर 1977 तक) आकाशवाणी के 195 केन्द्र काम कर रहे हैं। इस समय 300 ट्रांसमीटरों की सहायता से देश में 90% क्षेत्र में कुल 97.3% जनसंख्या तक आकाशवाणी के कार्यक्रम पहुँचते हैं।"

भारत् में दूरदर्शन की शुरुआत समाज-शिक्षा के विकास की दृष्टि से सन् 1959 में हुई। पहली नवम्बर 1959 को दिल्ली में प्रथम टेलीविजन स्टेशन की स्थापना हुई जिसका उद्घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति डा राजेन्द्र प्रसाद ने किया। उस समय यह आल इण्डिया रेडियो का ही एक भाग था। दूरदर्शन पर प्रारंभिक कार्यक्रम एक घण्टे के होते थे जो सप्ताह मे दो बार मंगलवार एवं शुक्रवार को प्रसारित

---

13 आकाशवाणी, राम बिहारी विश्वकर्मा, पृष्ठ 1

14 पत्रकारिता का इतिहास एवं जनसंचार माध्यम, सजीव भानावत, पृष्ठ—165

15 All India Radio 1996 Report, published by AIR, New Delhi, page 17

किए जाते थे। इनमें से चालिस मिनट के कार्यक्रम सामुदायिक केन्द्रों के लिए समाज शिक्षा के कार्यक्रम होते थे। सन् 1960 मे गणतंत्र दिवस समारोह को भी दूरदर्शन पर सीधे प्रसारित करने का भी सफल प्रयास किया गया था। पहली अप्रैल 1976 को आकाशवाणी से दूरदर्शन को पृथक कर दिया गया। इस प्रकार यह दृश्य-श्रव्य माध्यम आकाशवाणी के श्रव्य माध्यम से अलग होकर पृथक इयत्ता ग्रहण कर लिया है। आज दूरदर्शन का पर्याप्त विस्तार हो गया है। खेल, ससद मत्र आदि अन्य के सीधे प्रसारण से दूरदर्शन की महत्ता बढ़ गई है। दूरदर्शन वार्षिक रिपोर्ट 1997 के अनुसार इस समय 57.7 मीलियन घरों में टीवी सेट है, 296 मीलियन लोग अपने घरो मे टीवी कार्यक्रम देख सकते हैं।[16]

केबल के प्रचलन में आने से आज टीवी चैनलों की भरमार हो गई है। प्रसारण के बाजारू स्पर्धा में टिकने के लिए दूरदर्शन ने भी अपने कई चैनल खोल लिए हैं। आज इसके चैनलों की संख्या उन्नीस तक हो गई है।[17] इसके अतिरिक्त टीवी के आज पचासों चैनलो की भरमार है।

एक सम्पूर्ण माध्यम की शुरुआत : डिजिटल माध्यम

संचार माध्यमों के लिए अगला चरण इलेक्ट्रानिकी के चरम उत्कर्ष का चरण है। वर्तमान सदी का उत्तरार्द्ध और आगामी सदी साइबर स्पेश का युग है जिसमे पूर्व के सभी माध्यमों के प्रतिरूप वास्तविक रूप में कम्प्यूटर के स्क्रीन पर उतर चुके हैं। हिन्दी पत्रकारिता भी साइबर स्पेश में जा चुकी है। इण्टरनेट पर पत्रकारिता की वजह से वेब अखबार की शुरुआत हो चुकी है। "आज स्थिति यह है कि कुछ भारतीय समाचार पत्रों के संस्करण नेट के सर्वश्रेष्ठ संस्करणों में गिने जाते हैं। 1995 मे केवल 20 समाचार पत्रों के ही वेब साइट थे। अब इनकी संख्या चार हजार के करीब है। इनमें 225 एशियाई समाचार पत्र हैं। भारत में आन लाइन मीडिया की खास विशेषता यह है कि यहाँ अधिकतर साइट भारतीय भाषाओं के हैं। एक आँकलन के मुताबिक कुछ 60 प्रकाशनों के संस्करण नेट पर मौजूद हैं, जिनमें अंग्रेजी समाचार पत्रों के साइटों की संख्या केवल 18 है—शेष भारतीय भाषाओं के साइट हैं। भारत में करीब सभी प्रमुख समाचार प्रकाशनों के ऑन-लाइन संस्करण मौजूद हैं— टाइम्स ऑफ इण्डिया, हिन्दुस्तान टाइम्स, इण्डियन एक्सप्रेस, नई दुनिया, दैनिक जागरण, हिन्दी मिलाप, इण्डिया टुडे, डेक्कन हेराल्ड इत्यादि। इण्डिया टुडे की साइट मे बिजनेस टुडे, टीन्स टुडे, कम्प्यूटर टुडे और इण्डिया

---

16 Doordarshan-1997, (Annual Report) page 8

17 Vidur Journal of the Press Institute of India के 'भारत में आन लाइन पत्रकारिता' : दिनेशचन्द्र शर्मा के लेख से, पृष्ठ 41

टुंडे प्लस के अलावा 'आज तक' के रोजाना बुलेटिन और 'आर्ट टुडे' और 'म्यूजिक टुडे' के साइट भी देखे जा सकते हैं। इसके अलावा छोटे समाचार पत्रों में हैदराबाद के 'हिन्दी मिलाप', मध्य प्रदेश के 'एम.पी. क्रानिकल' और बँगलोर के 'संजीवनी' के संस्करण भी आन लाइन पर हैं। इसी प्रकार 'आफ्टरनून डिस्पैच', 'एशियन एज', 'बिजनेस लाइन', 'बिजनेस स्टैन्डर्ड', 'डक्कन क्रानिकल'' 'देशाभिमानी डेली', 'गोमान्तक टाइम्स', 'गुजरात बिजनेस', 'गुजरात समाचार', 'कश्मीर टाइम्स', 'लोकमत टाइम्स', 'मलयालम मनोरमा', 'नवभारत', 'द हिन्दू', 'टेलिग्राफ', 'टाइम्स आफ इण्डिया' और 'द पायोनियर' आदि समाचार पत्रो के साथ ही 'कम्पटीशन मास्टर', 'डिसकवर इण्डिया', 'फेमिना', 'फिल्मफेयर', 'फ्रन्टलाइन', 'आउटलुक', 'द वीक', 'टचडाउन इण्डिया' आदि पत्रिकाओं के भी वेब संस्करण इण्टरनेट पर मौजूद हैं। 'इन्हें देखना और पढना एक नया अनुभव है। यह अखबार को उसके ब्राडशीट कागज पर छपे रूप मे देखने-पढने से एकदम अलग किस्म का अनुभव है। यह पत्रकारिता का भविष्य है। अगली सदी की पत्रकारिता मूलत: साइबर स्पेश की पत्रकारिता ही होगी। इसका अर्थ यह नहीं कि कागजी अखबार नहीं होगे। वे होगे लेकिन उनकी संरचना, स्वरूप, प्रबंधन, सूचना संकलन, वितरण और संचार सभी इस नए स्पेश से प्रभावित होगे और बदल जाऐंगे।[18]

इण्टरनेट के स्क्रीन पर उतरने में इलेक्ट्रानिक मीडिया एवं फिल्म भी प्रिन्ट मीडिया से पीछे नहीं है। इण्टरनेट पर आज 'आकाशवाणी', 'दूरदर्शन' और 'आज तक' के वेब संस्करण उपलब्ध है।[19] विनोद चोपड़ा प्रोडक्सन्स की विधु विनोद चोपड़ा द्वारा निर्मित फिल्म 'करीब' अब इण्टरनेट पर उपलब्ध है। ''डब्लू. डब्लू.डब्लू..करीब कॉम'' नामक इस साइट में सब कुछ तो है—सविस्तार सूचना, सजीव वार्ता, समाचार पट, वास्तविक आडियो, गीतो की झलकियों के विडियो चित्र तथा गुनगुनाने लायक धुनों सहित सम्पूर्ण गीत। साइट तक पहुँचने पर सबसे ज्यादा प्रभावित करती है इसकी क्रमबद्धता और समूची साइट को विधु द्वारा कथा शैली में पिरोया गया है जिससे 'करीब' के निर्माण व उसके विषय में पूरी झलक मिलती है। इससे न केवल उत्सुकता और कौतूहल जागता है, बल्कि पात्रों का विवरण भी प्राप्त होता है तथा 'करीब' से जुड़े पर्दे के आगे व पीछे के तमाम लोगों के विषय में जानकारी अलग-अलग खण्ड में उपलब्ध है।[20] इण्टरनेट पर फिल्म एवं इलेक्ट्रानिक मीडिया का आस्वाद विशिष्ट होता है।

---

18 Vidur : Journal of the Press Institute of India के 'साइबर स्पेश के जनतंत्र में : सुधीश पचौरी, लेख से, पृष्ठ 38

19 दृष्टव्य इण्टरनेट का वेवसाइट WWW.123 India.Com अथवा WWW Khoj Com.

20 दैनिक जागरण 16 जुलाई 1998 के 'इण्टरनेट के करीव' लेख से

अखबार अथवा पत्रिकाओं के अलावा नेट पर ऐसी पत्रिकाओं के साइट भी उपलब्ध हैं जिनका कोई छपाई संस्करण नहीं है बल्कि उनके केवल नेट सस्करण उपलब्ध हैं। दूसरे शब्दें में अन्य संचार माध्यमों के वेब संस्करणों के अलावा केवल इण्टरनेट के लिए भी कई समाचार पत्र अथवा आनलाइन पत्रकारिता उपलब्ध है, जिनमें प्रमुख हैं— 'रेडिफ आन द नेट', 'इण्डिया वर्ल्ड', 'इण्डियन एक्सप्रेस', 'साइबर इण्डिया आन लाइन' 'इण्डिया आन द नेट' आदि। इन्हे 'बेवजीन' अथवा 'नेटजीन' का नाम दिया जा सकता है। साइबर स्पेश में भारत भी किसी से कम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हमारे अखबार भी नवीनतम_तकनीक अपनाने के लिए सदैव उत्सुक हैं। भारत में इण्टरनेट के इस्तेमाल करने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। विदेश संचार निगम लिमिटेड के पास अभी एक लाख बीस हजार इण्टरनेट कनेक्शनों का रजिस्ट्रेशन है। लेकिन गैर सरकारी ऑकडों के मुताबिक इण्टरनेट तक पहुँच रखने वाले लगभग पॉच लाख लोग हैं। इनमे से अधिकाश अप्रवासी भारतीय हैं। फिर भी इस माध्यम की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इस माध्यम को मेरी समझ से डिजिटल माध्यम नाम देना अधिक तर्क संगत होगा क्योकि इसमें डिजिट तकनीक का प्रयोग होता है।

अध्याय - दो

साहित्य का आदिस्रोत :
प्रथम संचार माध्यम-लोकनाट्य

अध्याय - दो

साहित्य का आदिस्रोत : प्रथम संचार माध्यम लोकनाट्य

परम्परागत लोक माध्यम संसार का प्रथम सचार माध्यम है। लोक माध्यम के रूप में लोकनाट्य एवं भाषायी रंगमंच की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। प्राचीन भारतीय समाज में आज की तरह लोकनाट्य के रूप में सशक्त संचार माध्यम थे और आधुनिक संचार माध्यम जिन उद्देश्यों की पूर्ति कर रहे हैं, उस युग में उनकी पूर्ति ये लोकनाट्य, भाषायी या जातीय रंगमंच करते थे। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में भूतपूर्व सरगुजा रियासत की पहाडी में अवस्थित 'सीता बैंगा' तथा 'जोगीमारा' की गुफाओं में पुराना प्रेक्षागृह मिलता है। आधुनिक संचार माध्यमों ने इस माध्यम को कुछ हद तक स्थानापन्न किया भी है फिर भी समाज में इनकी भूमिका अत्यत महत्वपूर्ण थी और आज भी है। लोक साहित्य का अधिकांश भाग लोकनाट्य से अभिन्न रूप से जुडा रहा है। भारतीय नाटक के जन्म की कहानी किसी-न-किसी रूप में धार्मिक अनुष्ठानों तथा ऋतु उत्सवों से जुडी हुई है। बहुविध बाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी एक ही संस्कृति सूत्र में बँधे भारतीय जनमानस की प्रमुख चिन्ता जीवन और कला साहित्य के सभी स्तरों पर सत्य की खोज की रही है। स्पष्टत: ऐसे व्यापक तथा बहुआयामी जीवन सत्य को व्यक्त करने के लिए प्राचीन भारतीय नाटकों में शास्त्रीय तथा लोक दोनों स्तरो पर ऐसी रंग रूढ़ियाँ और नाट्य शैलियाँ खोजी गईं जो दृश्य होकर भी स्थूल दृश्य का अतिक्रमण करने में समर्थ हों, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावावेग तथा संवेदन एव विराट से विराट व्यक्ति एवं घटना को मंच पर प्रदर्शित करने में समान रूप से सक्षम हों। इस प्रक्रिया में यथार्थ के मुकाबले 'नाटकीय काव्य' के महत्व को स्वीकारा गया। इस रूप में नाटक के लिए साहित्य का संस्कार जरूरी हो जाता है।

नाटक साहित्य की अभिन्न विधा है। इसे प्राचीन काल से लेकर अब तक माना जाता रहा है। साहित्य के आधार पर ही शास्त्रीय एवं लोकनाट्य के दो नाटक रूपों का प्रवर्तन एवं विकास हुआ है। शास्त्रीय नाटकों का सम्बन्ध उत्कृष्ट साहित्य से रहा है, तो लोकनाट्य लोक साहित्य पर अवलंबित रहा है। संस्कृत साहित्य का शारिपुत्र प्रकरण (अश्वघोष), उरुभंग, कर्णभार, मध्यम व्यायोग, अविमारक, चारुदत्त अभिषेक (भासकृत), मृच्छकटिकम (शुद्रक), मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम् (कालिदास), नागानन्द रत्नावली, प्रियदर्शिका (हर्ष), उत्तररामचरितम् (भवभूति), मुद्राराक्षस (विशाखदत्त), वेणिसंहार (भट्टनारायण), अनर्घराघव (मुरारि), बालरामायण, बालभारत,

कर्पूरमञ्जरी (राजशेखर), भगवद्ज्जुकम (बौधायन) तथा मत्तविलास (महेन्द्र वर्मन) आदि कालजयी रचनाओं ने समकालीन भारतीय रंगमंच को अनेक प्रकार से प्रभावित एवं समृद्ध किया है। भरतमुनि ने नाटक को दस भागों में बाँटा है जिसमें दो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—पहला है 'नाटक' जिसका विषय इतिहास एवं पौराणिक कथाओं से लिया गया है। इसके उदाहरण है कालिदास की 'शकुन्तला' और भवभूति का 'उत्तर रामचरित'। दूसरा है 'पुराक्रम' जिसमे नाट्यकार ने साधारण लोगों से सम्बन्धित विषय लिया है जैसे शुद्रक का मृच्छकटिकम्।

ऐतिहासिक कारणों से प्राचीन राज्याश्रित शास्त्रीय रंगमंच तथा जनाश्रित लोक रंगमंच की समृद्ध रंगधारा मध्ययुग में विभिन्न क्षेत्रीय रूपों में बँटकर अनेक राजनैतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक दबावों में क्रमशः क्षीण और लुप्तप्राय सी होती गई। इस देश में मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठा हो जाने पर भारतवर्ष की राजनीतिक एकसूत्रता नष्ट हो गई। देश के विभिन्न भागों मे छोटे-छोटे राजा राज्य करने लगे। मुसलमानी शासकों की प्रवृत्ति साहित्य तथा नाट्यकला की ओर शत्रुतापूर्ण थी। वे इन्हें नष्ट करने में ही अपनी वीरता समझते थे। फलतः इनके शासन में नाटक-रचना तथा रंगशाला का घोर ह्रास हुआ। राज्याश्रय का अभाव भी इनके पतन का कारण बना। सस्कृत साहित्य की नाट्य-परम्परा जो हजारों वर्षो से अबाध गति से चली आ रही थी,सदा के लिए नष्ट हो गई।[1] इसका प्रभाव केवल रंगमच पर ही नहीं पड़ा अपितु साहित्य सृजन की अजस्त्रधारा भी सूखने लगी। इसी समय "भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से दो लोकधर्मी नाट्य परम्परा का जन्म हुआ— (1) रासलीला और (2) रामलीला।"[2] इसी तरह बंगाल में 'जात्रा', महाराष्ट्र में 'तमाशा', गुजरात मे 'भवाई', उत्तर प्रदेश मे 'नौटंकी', राजस्थान में 'ख्याल' और 'फण', मध्य प्रदेश में 'माच', कश्मीर में 'भांडपांथर', पंजाब में 'नकल', तमिलनाडु में 'औट-थेरू, कोथु', कर्नाटक में 'बयालता' आदि लोकनाट्य तथा कर्नाटक में 'यक्षगान', असम में 'अंकियानाट', केरल में 'कुडियाट्टम, आदि अर्द्धशास्त्रीय नाट्यरूप सक्रिय एवं जीवंत हुए। कालान्तर में मुगल साम्राज्य के विघटन एवं ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना ने बाहर-भीतर कई स्तरों पर रंगमंच एवं साहित्य को प्रभावित किया।

जिस प्रकार से 'भारतीय शास्त्रों ने लोक मे प्रचलित साहित्य के विभिन्न रूपों की कभी उपेक्षा नहीं की है, नवीन छन्द, नवीन गीत पद्धति, नवीन नाट्यरूपक बराबर ही लोकचित्त से छनकर उच्च

---

1 लोक साहित्य की भूमिका, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 145

2 लोक साहित्य की भूमिका, डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 145

शास्त्रीय धरातल तक पहुँचते रहे हैं '.[3] उसी प्रकार लोक माध्यम के इस क्षेत्रीय रूपों ने साहित्य के प्रयोजनवती व उत्कृष्ट रूप को सम्वर्धित व सुरक्षित रखा। यह साहित्य उतना ही 'स्वाभाविक था जितना जंगल में खिलने वाला फूल, उतना ही स्वच्छन्द था जितनी आकाश में विचरने वाली चिड़िया, उतना ही सरल तथा पवित्र था जितनी गंगाजल की निर्मल धारा।'[4] भले ही इस "साहित्य को किसी एक रचनाकार के नाम से नहीं जोड़ा जा सकता था। निःसंदेह हर लोकगीत अपने आरम्भिक रूप में किसी एक व्यक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति रही होगी, हर लोककथा का उद्गम भी इसी तरह एक व्यक्ति की विस्मय भावना में रहा होगा, किन्तु अपनी स्वीकृति और विस्तार मे दोनों 'लोक' अथवा 'जन' की सम्पत्ति बन गए और लोकचेतना ने उनमे परिष्कार, परिवर्तन और परिवर्धन किए।"[5] वस्तुतः इस साहित्य के लोक में उपसरण का कारण इस माध्यम की अपनी विशेषता है। यह माध्यम पूर्णतः लोकरंग में रंगा हुआ होता है, लोकपरक होना नाटकों की पूर्वापेक्षा है। नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हो, वह कितने ही सुन्दर शब्दों और छन्दो में रचा गया हो, वह तभी सफल माना जाता है, जब लोक उसे स्वीकार कर लें।

वेदाध्यात्मोत्पन्नं तु शब्दच्छन्द स्समन्वितम्।

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा॥[6]

अतः लोक माध्यम एवं साहित्य के अन्तर्सबन्धों की चर्चा में लोकसाहित्य की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती है।

भारतीय नाटक प्राचीन काल में पूर्णतः विकसित हो चुका था अतः 'भारतीय नाटक का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भरतमुनि (ई.पू. तीसरी शताब्दी) ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में इस विषय का विशद वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त धनंजय कृत 'दशरूपक' तथा विश्वनाथ कविराज लिखित 'साहित्य दर्पण' में इसके सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध मिलती है। परन्तु भरत के 'नाट्यशास्त्र'

---

3 लोक साहित्य की भूमिका, डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 14

4 लोक संगीत की रूपरेखा, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 28

5 परम्परा, इतिहासबोध और संस्कृति, श्यामाचरण दूबे, पृष्ठ 152

6 नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, 25-121

का महत्व सबसे अधिक है।'[7] संसार के प्रथम संचार माध्यम एवं साहित्य दोनों ही दृष्टियों से इस ग्रन्थ की महत्ता अद्वितीय है। माध्यम की दृष्टि से महत्ता इसलिए हैं क्योकि तकनीक एवं कला दोनों ही आधारों का उसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन है। तकनीक की दृष्टि से प्रेक्षागृह निर्माण विधि, रंगशाला का नक्शा, रंगमंच और दर्शकों के बैठने का विधान, लकडी की साज सज्जा, अलग-अलग दिशाओं मे देवताओं की स्थापना (अध्याय 2) तथा उसकी विधि, रंगप्रदीपन (अध्याय 3), वादकों के बैठने की व्यवस्था, खाल वाले अवनद्ध वाद्य (अध्याय 34), सुषिर वाद्य (अध्याय 30) आदि का विस्तृत विवेचन है तो कला की दृष्टि से नृत्य (अध्याय 4), शारीरिक मुद्राएं (अध्याय 9), आहार्य अभिनय (अध्याय 21), बागाभिनय (अध्याय 14), चित्राभिनय (अध्याय 25), अभिनय (अध्याय 8 एवं 22) व अभिनय करने वाले पात्र की अभिनय प्रकृति (अध्याय 26), प्रदर्शन से पूर्व तथा आरम्भ की क्रिया पूर्वरंग (अध्याय 5), गुण दोष विचार (अध्याय 33), मंच पर घूमने तथा मण्डलाकार प्रस्तुति के विधान (अध्याय 11), मंच पर प्रवेश का नियम (अध्याय 12, 13), प्रदर्शन प्रयोग की शैलियाँ (अध्याय 18) बोलने की वृत्तियाँ (अध्याय 20) आदि विषयो पर छोटी-से-छोटी बातों का भी उचित निर्देशन है। संचार माध्यमों के अद्यतन विकसित युग मे आज भी किसी माध्यम का इतना विशुद्ध विकसित एवं सर्वांगीण शास्त्र नहीं है जितना कि नाटक का था।

साहित्य की दृष्टि से 'नाट्यशास्त्र' साहित्य का आदि स्रोत है। साहित्य का बीजरूप वेदों में भले मिल जाए, किन्तु साहित्य के लिए नाट्यशास्त्र उसके अध्ययन का प्रस्थान बिन्दु है। नाट्यशास्त्र से ही साहित्यशास्त्र विकसित हुआ है। ''यदि नाट्यशास्त्र न लिखा गया होता तो सैकड़ों शताब्दियों तक लिखे जाने वाले काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ शायद लिखे ही न जाते। काव्य की परिभाषा, काव्य के अलंकार, काव्य के गुण-दोष, काव्य के लक्षण, छन्दशास्त्र तथा अनेक काव्यों का मूल यही ग्रन्थ रहा है।''[8] ''इस ग्रन्थ की महत्ता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि इसने काव्य और कला की दो परम्पराओं को एक साथ जन्म दिया-प्रथम काव्य शास्त्र तथा दूसरा नृत्य संगीत शास्त्र। इस ग्रन्थ की छाया पर प्रत्येक शताब्दि में बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना होती रही।''[9] काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इस ग्रन्थ ने

---

7 लोक साहित्य की भूमिका, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ 144

8 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 67

9 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 67

'काव्य प्रकाश' (आचार्य मम्मट), रसार्णव सिन्धु (सिंह भूपाल), शृंगार प्रकाश, सरस्वती कण्ठाभरण (भोजराज), प्रतापरुद्र (यशोभूषण), साहित्य दर्पण (आचार्य विश्वनाथ), काव्यानुशासन (हेमचन्द्राचार्य), व्यक्तिविवेक (महिमभट्ट), रसगंगाधर (पडितराज जगन्नाथ) आदि ग्रन्थों के प्रणयन की प्रेरणा दी। 'भरतशास्त्र' (नाट्यशास्त्र) की विषय-वस्तु न केवल नाट्यविषयक अपितु काव्यविषयक ग्रन्थों के लिए भी अपरिहार्य बन गई। काव्यशास्त्रीय परम्परा के आचार्यों ने अपने काव्य विषयक ग्रन्थों में इसके विषयवस्तु का भरपूर प्रयोग किया।[10]

नाट्यशास्त्र के अन्तर्वस्तु के अवलोकन से हम पाते हैं कि इसके सैतीस अध्यायों के 6000 श्लोकों का अधिकांश भाग भाषा और साहित्य को समर्पित है। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में साहित्य की रसप्रक्रिया के अन्तर्गत भाव, विभाव एवं रस आदि के सम्बन्धों एवं साहित्य के रसास्वादन का मनोविज्ञान सम्मत विवेचन है। रसानुभूति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालने वाले अत्यंत छोटे किन्तु महत्वपूर्ण सूत्र 'विभावानुभाव व्याभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः' की शंकुक, भट्टनायक, भट्टतौत, भट्टलोलट, अभिनवगुप्त, गोविन्द ठक्कर, नान्यदेव, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि संस्कृत आचार्यों ने विस्तृत व्याख्या की। इसी क्रम में हिन्दी के समालोचकों यथा रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुन्दर दास, बाबू गुलाबराय, डॉ. भगीरथ मिश्र, डॉ नगेन्द्र आदि ने भी बहुत कुछ लिखा है। इसकी महत्ता है कि यह रस सिद्धान्त साहित्य सृजन की अद्वितीय कसौटी रही है। चौदहवे अध्याय में वागाभिनय के अन्तर्गत अक्षरों के रूप, उच्चारण स्थल, शब्द के लक्षण, घोष-अघोष ध्वनियाँ, विभिन्न प्रकार के छन्द बनाने के नियम, समवृत्त तथा विषमवृत्तोंके रचनाविधान आदि पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार यह अध्याय भाषाशास्त्रीय विश्लेषण एवं काव्य के रूप विधान को समर्पित है। पन्द्रहवें एवं बत्तीसवें अध्याय में छन्दों का सोदाहरण रचनाविधान प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न अलंकार, काव्यगुण, काव्यदोष आदि का सोलहवें अध्याय में विवेचन है। इसमें रसो के अनुसार काव्य रचना के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए रचनाकारों को यह निर्देश दिया गया है कि नाट्य के संवाद व कथानक में बोधगम्य, सरस, ललित एवं मृदु शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। उन्नीसवें अध्याय में कथानक का शास्त्रीय विवेचन है। इस अध्याय में लेखक ने आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथाओ का भेद करते हुए कथानक की पाँच कार्यावस्थाएँ, पाँच सन्धियों तथा पाँच अर्थ प्रकृतियों को समझाया है। इसके अनन्तर गीत

---

10 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 55

प्रस्तुति के नियमों को समझाया गया है। अध्याय उन्तीस मे भी गीतों के लक्षण और उनके प्रयोग की पद्धतियों को बताया गया है। यह विवेचन नाटक के संदर्भ में भले ही है किन्तु यह साहित्य का आधार भी रहा है। नाट्यशास्त्र के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य इस माध्यम का सहवर्ती बनकर नि:सृत हुआ। इसके अतिरिक्त इसकी दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि 'नाट्यशास्त्र' एवं अन्य ऐसे कतिपय ग्रन्थ उस समय के सर्जनात्मक लेखन (Creative Writing) मे प्रशिक्षण के लिए लिखे गये शास्त्र की तरह हैं जिसने हजारों वर्षों तक रचनाकारों एवं अभिनेताओं का मार्गदर्शन किया है।

नाट्यशास्त्र की अन्तर्वस्तु का अधिकाश भाग साहित्य की अमूल्य धरोहर एवं अपरिहार्य भाग है। आज आधुनिक साहित्य के युग मे काव्यशास्त्र के कुछ भाग अप्रासंगिक दिखते हैं फिर भी भाषा एवं साहित्य को समझने के लिए नाट्यशास्त्र द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि इस माध्यम ने साहित्य एवं साहित्य के सस्कार को लोक मे उतारकर साहित्य के प्रति माध्यम की सहयोगी भूमिका का निर्वाह किया। इस रूप मे नाट्यशास्त्र एवं ऐसे अन्य ग्रन्थ लोक एवं शास्त्र के सेतु रहे हैं। लोकनाट्य वर्ण-वर्ग, शिक्षित-अशिक्षित, गँवार-अभिजात, स्त्री-पुरुष आदि भेदों से मुक्त लोकरंजनकारी कला थी। इससे जुड़े रंगकर्मियों ने भारतीय संस्कृति की रचनात्मकता को मजबूत करने में अपना अनन्य योगदान दिया। भक्ति आन्दोलन की तरह 'वर्ण व्यवस्था के कठोर काल में भरतों (भरत वस्तुत: आगे चलकर जाति वाचक शव्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा, जिसकी चर्चा आगे की गई है) ने शुद्रों के अधिकारों के लिए पंचमवेद अर्थात् नाट्यशास्त्र की रचना की। भरतों की महानता इसमें थी कि इन्होंने सवर्णों की न निन्दा की आर न उनके प्रतिकूल कोई आचरण किया। भरतो ने सवर्णों के विरुद्ध एक ललित आन्दोलन छेडा। एक नये आधार को ग्रहण कर लोक की चित्तवृत्ति को कलात्मक सौंदर्य की ओर आकर्षित किया। उनकी कला सम्पदा के लालित्यपूर्ण वैभव ने जन-मन के हृदय पर सहज ही अधिकार कर लिया और समाज का प्रत्येक छोटा-बड़ा वर्ग उनकी कला का प्रेमी हो गया। बिना भेद-भाव के समाज के हर वर्ग का प्राणी उनका प्रशंसक बन गया। उस युग की परिस्थितियों में यह कोई छोटा काम न था। भरतों का यह प्रयास इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ है।'[11]

'भरत का प्रयोग धीरे-धीरे दर्शन, अध्यात्म और धर्म की सरिताओं मे स्नान करता हुआ ऊँचाई के उस शिखर पर पहुँच गया जहाँ इसका लक्ष्य दर्शको का मात्र मनोरंजन करना ही नहीं था अपितु

---

11 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ व्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 63

दर्शकों की चित्तवृत्ति को संस्कारित करने का एक महान् नेत्रयज्ञ बन गया, सभ्य और आदर्श लोकवादी समाज रचना का एक प्रकल्प सिद्ध हुआ, सवेदनशील और निष्कलक मानव की रचना का एक कलात्मक अनुष्ठान बना। उसका प्रयोग केवल दिखाने के लिए नहीं अपितु समाज के परिष्कार एवं विकास के लिए प्रेरणा का पीयूष बहाने के लिए है।'[12] वस्तुत: किसी भी माध्यम क्रान्ति का आदर्श यही हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस माध्यम ने साहित्य के संस्कार को अपना कर उच्चादर्श प्रस्तुत करते हुए समाज के प्रति उसी उत्तरदायित्व का निर्वहन किया जो कि साहित्य करता। सूचनात्मक कार्य के अतिरिक्त साहित्य भी लगभग वही कार्य करता है जो संचार माध्यम करते हैं। अस्तु साहित्य से पृथक कर इस माध्यम को देखना इन दोनों के प्रति अन्याय है।

इस लोक माध्यम नाट्य से जुड़े लोग स्वयं रचनाकार रहे हैं इसका उदाहरण प्राय: नहीं मिलता है। जिस 'नट' शब्द से 'नाट्य' या 'नाटक' शब्द की उत्पत्ति है उसके बारे में कहा जाता है कि 'प्राचीन भारत में नट नामक एक प्राचीन जाति थी। ये लोग ढोल बजाकर अपने शरीर के कौतुक से जनता का मनोरंजन किया करते थे। यह घूमने वाली यायावर जाति थी। लय और ताल का इनको स्वाभाविक ज्ञान था और अंग-विक्षेप अर्थात् शरीर के किसी भी भाग को किसी भी दिशा में घुमाने-चलाने का इन्हें अभ्यास था। वह भी शरीर को लय के साथ संचालित करने में इन्हें महारत हासिल थी। बहुत से विद्वानों ने 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित 'नट' शब्द का अर्थ अभिनेता किया है। इस सम्बन्ध में यह बात समझ लेनी चाहिए कि नटों का वर्ग पहले अलग था। वाल्मीकि कृत 'रामायण' में, चाणक्य के अर्थशास्त्र में नट, नर्तक, गन्धर्व शब्दो का अनेक वार प्रयोग हुआ है। इसका मतलब साफ है कि तब तक समाज में 'नट' और 'नर्तक' दोनों वर्गों की पहचान अलग हो गई थी। यह भी सत्य है कि नटों का वर्ग धीरे-धीरे नाट्य प्रदर्शन से जुड़ता गया।'[13] 'अब यह समझने के लिए काफी चीजें हमारे सामने हैं कि 'नाट्यशास्त्र' नटों का शास्त्र है। नटों को शुद्र कह कर आर्यसंस्कृति के पक्षधरों ने उन्हें अपने से दूर रखा। 'नट' भारतीय मूल के थे, अत: इन्होंने किसी समय स्वयं को भरत कहना प्रारम्भ कर दिया।'[14] स्पष्टत: नाट्य के संदर्भ में भरत एक जातिवाचक शब्द है। नाट्यकोविद भरतो की परम्परा ईसा के जन्म

---

12 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 69, 88

13 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 44

14 भरत और उनका नाट्यशास्त्र, डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र, पृष्ठ 49

से कई हजार वर्ष पूर्व भारत में विकसित ही नहीं लोकप्रिय हो चुकी थी। भरत लोग नाट्य विद्या के विशेषज्ञों के रूप में लोक में प्रसिद्धि पा चुके थे। ये लोग गायन, वादन, नर्तन तथा अभिनय में पारंगत होते थे। प्राचीनकाल की गुरुशिष्य परम्परा के अनुसार इन्हे पीढी दर पीढी रंगकर्म की समस्त विधाओं का सर्वांगीण प्रशिक्षण दिया जाता था। यह प्रशिक्षण श्रुत एवं कण्ठ परम्परा पर आधारित था। गायन, वादन, नर्तन तथा अभिनय का सम्बन्ध प्रयोग पक्ष से जुडा होता था। अत: इस क्षेत्र में श्रुतज्ञान के साथ-साथ प्रशिक्षण लेने वालों को व्यावहारिक शिक्षा लेनी पडती थी। इस प्रकार इस लोक माध्यम से जुड़े लोग संचार विशेषज्ञ तो थे किन्तु स्वयं रचनाकार नहीं थे। इसके बावजूद लोक माध्यम एवं साहित्य का सुंदर समन्वय था। यह आज के संचार माध्यम से जुडे लोगो के लिए आदर्श हो सकता है जिससे तकनीकी क्रान्ति के साथ-साथ समाजोपयोगी माध्यम क्रान्ति खड़ी की जा सके।

कालान्तर में क्षेत्रीय लोक माध्यमों के प्रभुत्व के बाद पुन: जब लोकनाट्य का उपयोग शुरू हुआ तो उस समय रचनाकार एवं इस माध्यम से जुड़े लोगों के बीच एक अन्तराल उपस्थित हो गया, नाटककार एवं रंगमंच के बीच एक दूरी स्थापित हो गई। पारसी थियेटरों ने व्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाकर इसके बीच की खाई को और बढ़ा दिया। देखते ही देखते पारसी थियेटर सम्पूर्ण भारत पर छा गया। उधर काशी में अव्यावसायिक रंगकर्म की दृष्टि से प्रथम आधुनिक भारतीय नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ जिन्होंने रंगमंच को एक नया मिशन दिया। इसके लिए इन्होंने रचनाकारों की एक मंडली तैयार की। भारतेन्दु ने पूर्ण, अपूर्ण, भौतिक तथा अनुवादित सब मिलाकर सत्रह नाटक रचे, 'नाटक' शीर्षक से एक लम्बा निबन्ध लिखा (1883)— जो हिन्दी आलोचना का आधार शिला कहा जा सकता है— और बड़ी बात यह कि नाटक और रंगमच को अभिन्न मानकर उन्होंने स्वयं और अपनी मित्र मण्डली के माध्यम से नाटकों के अभिनय को बराबर प्रोत्साहन दिया।[15] ''यहाँ उल्लेखनीय है कि हिन्दी क्षेत्र में पारसी नाटक मण्डलियों की स्थिति से ये लेखक परेशान थे। उनकी लोकप्रियता से उन्हें स्पर्धा थी, पर उसके फुहड़पन से वे उतने ही क्षुब्ध थे। 1871 ई. के आसपास बम्बई से आरम्भ इस व्यावसायिक रंगमंच प्रणाली ने अधिकतर दो प्रकार के नाटक अपनाए-धार्मिक और इश्क सम्बन्धी। सामान्य जनता की इन दो मूलवृत्तियों को संतुष्ट करके ये अपना व्यवसाय चलाते थे। इन पारसी कम्पनियों का दौर प्राय: 1930 ई० तक बना रहा, जब सिनेमा के बढते प्रभाव में ये समाप्त हो गईं।

---

15 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी पृष्ठ 101

पारसी नाटकों के विरोध में स्वयं भारतेन्दु (द्रष्टव्य 'नाटक' शीर्षक निबन्ध) और उनके सहकर्मियों ने बहुत लिखा, पर उनके कुछ लटकों को उन्होने स्वीकार भी किया। यह उनके मन में स्पष्ट हो गया था कि अधिकांश में निरक्षर जनता के बीच पैठने के लिए रगमंच तथा लोक माध्यमों से उपयुक्त कोई और प्रणाली नहीं है।''[16] निश्चित ही इसके पीछे नाटक के सम्प्रेषण पक्ष पर भारतेन्दु युगीन लेखकों का ध्यान अधिक था क्योंकि सम्प्रेषण के अभाव में नाटक की सार्थकता कम हो जाती है। इन लेखकों में नाटक के प्रति मिशनरी भाव किस हद तक था इसका पता इस बात से लगाया जा सकता था कि इस मण्डली के लेखक प्रताप नारायण मिश्र ने शकुंतला के अभिनय के लिए अपने पिता से मूंछ मुड़ाने की आज्ञा ले ली। इस रूप में इन रचनाकारों ने इस लोकमाध्यम के सार्थक उपयोग के नाटक रचे एवं स्वयं उनके प्रदर्शन के लिए पहल भी किया।

जयशंकर प्रसाद तक आते-आते नाटक की स्थिति विचित्र हो गई। ''नाट्य संभावना उनकी रचनाओं में सर्वाधिक है, उनके नाटकों में सीधी-सपाट भाषा की तुलना में लाक्षणिक और अधिक अर्थसम्पन्न भाषा का प्रयोग हुआ। जैसे प्रेमचन्द के हाथों से उपन्यास ने अपना उत्कर्ष प्राप्त किया उसी तरह जयशंकर प्रसाद के हाथों में नाटक सम्पूर्ण साहित्यिक गौरव पा सका। पर रंगमंच से विछिन्न रहकर उसकी संभावनाएं पूरी तरह सम्पन्न नहीं होती। प्रकारान्तर से माध्यम एवं साहित्य अर्थात् नाटक एवं रंगमंच के बीच सम्बन्ध का विवाद सर्वप्रथम प्रसाद द्वारा ही उठा जब प्रसाद जी ने अपने 'रंगमच' शीर्षक निबन्ध में लिखा 'यह प्रत्येक काल में माना जायेगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है. रंगमंच के संदर्भ में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ, प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।'[17] यह अकारण नहीं कि नाटक अब रंगमंच से अलग हटकर शुद्ध पठनीय हो गया। यह माध्यम से पृथक साहित्य की स्थिति है। लोकमाध्यम एवं साहित्य का अन्तरावलम्बन कम हो गया। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि नाटक जनता से दूर हो गया। ''प्रसाद के समय से ही धीरे-धीरे नाटक दृश्य के बजाय पाठ्य अधिक होता जा रहा था, सेठ गोविन्द दास तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक उदाहरण हैं। बाद के कुछ नाटककारों ने बलपूर्वक इस गलत प्रवाह को मोड़ा और हिन्दी रंगमंच को पुनरुज्जीवित

---

16 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी पृष्ठ 108

17 दृष्ठव्य प्रसाद जी का 'रंगमंच' शीर्षक निबन्ध

करने का यत्न किया। कुछ अन्य नाटककार नाटक को महज किताब मानकर लिखते रहे। नाटक को रंगमंच के साथ फिर से जोड़ने मे उपेन्द्र नाथ 'अश्क', जगदीश चन्द्र माथुर, और भुवनेश्वर ने विशेष रूप से प्रयास किया। अश्क ने व्यावहारिक रंगकर्म मे भी बराबर रुचि ली। रंगमंच को सक्रिय करने के लिए एकांकी नाटक लिखे गए, जिस दौर को शुरू करने और गति देने में रामकुमार वर्मा का नाम उल्लेखनीय है।[18] सन् 1950 के बाद धर्मवीर भारती (अंधायुग), मोहन राकेश (आधे अधूरे, आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस) एवं सुरेन्द्र वर्मा (आठवां सर्ग, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक) आदि ने भी अपनी रंगधर्मिता को साहित्यिक उत्कर्ष प्रदान किया।

स्वतंत्रता के पूर्व स्थापित 'इप्टा' ने रंगकर्म के क्षेत्र मे पारसी थियेटर से खड़ी चुनौती का सामना किया। स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी', 'एशियाई नाट्य संस्थान', 'अनामिका' 'थिएटर यूनिट' 'थिएटर ग्रुप', 'श्री आर्टस क्लब', 'लिटिल थिएटर ग्रुप', 'दिल्ली आर्ट थियेटर', 'लखनऊ रंगमच', 'इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोशिएसन', 'नाट्य केन्द्र, 'श्री नाट्य वाराणसी', 'भारतीय कला मंदिर' आदि संस्थाओं का उद्‌गम हुआ और इसने रंग आन्दोलन को नई शैली प्रदान की। रंगकर्म के इस प्रयोगधर्मी युग में शंभुमित्र, बादल सरकार, मोहित चटर्जी, अण्णा साहब किर्लोस्कर, विजय तेन्दुलकर, चित्रयं खानोलकर, बी वी शिखाद्‌कर, सतीश अतिकर, सत्यदेव दुबे, डॉ. श्रीराम लागू, के.एस. कारंत, गिरीश कर्नाड, विजय मिश्र, गोपाल डे, रतन थियम, पाणिकर, श्री शंकर पिल्लई, सी.डी. सिद्धू, हबीब तनवीर आदि प्रसिद्ध रंगकर्मियों ने रंगकर्म को नवीन आयाम दिया।

हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक अवलोकन से हम पाते हैं कि हिन्दी गद्य साहित्य की वास्तविक शुरुआत नाटकों से हुई। इसको रेखांकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा कि, 'विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ'[19]। इसके आगे उन्होंने भारतेन्दु के कृतित्व में नाटको की केन्द्रीय स्थिति को स्पष्ट किया। 'अभिनय के संदर्भ में यह स्मरणीय है कि स्वयं भारतेन्दु तथा उनके अनेक मित्र रंगमंच पर भूमिकाओं में उतरते थे तथा अन्य रूपों में रंगकर्म को प्रोत्साहन देते थे।' [20] 'भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित आधुनिक काल

---

18 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 255।

19 दृष्टव्य हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

20 दृष्टव्य हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

में एक ओर पश्चिम की नयी चेतना से सम्पर्क का यत्न है, तो दूसरी ओर अपने लोक जीवन से जुड़े रहने की उतनी ही उत्कृष्ट लालसा है। पत्र-पत्रिकाओं के आयोजन से यदि एक उद्देश्य की पूर्ति होती है तो, नाटक और लोक काव्यों के प्रचार-प्रसार से दूसरे उद्देश्य की। यही कारण है कि इस युग के लेखकीय कार्यक्रम में तीन अंग बराबर मिलेंगे—पत्रकारिता का निरंतर आयोजन, नाट्य लेखन और अभिनय तथा कजली-लावनी जैसे स्थानीय लोक माध्यमों का संवर्द्धन। यह लोक जीवन से जुड़े रहने की चिंता भारतेन्दु युगीन हिन्दी लेखक को पश्चिमी संस्कृति के प्रवाह में बहने नहीं देती।[21]

यदि साहित्य का सरोकार सामाजिक चेतना से है तो सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए लोकनाट्य सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है क्योकि नाटक अपने स्वभाव से ही सामाजिक है। यह संयोग ही है कि नाटक के दर्शकों को 'सामाजिक' की संज्ञा दी जाती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कलावादी आन्दोलनों से पृथक साहित्य का सरोकार समाज से जिस काल में अधिक रहा है तो वह काल प्रथमत: भक्तिकाल और दूसरा पुनर्जागरण काल रहा है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अन्य काल खण्डों की तुलना में इन युगों में नाटकों की रचना सर्वाधिक हुई। किन्तु कालान्तर में परिवेश की जटिलता के कारण एक नवीन औपन्यासिक विधा की खोज हुई। नये सामाजिक सन्दर्भों में उपन्यास भी उसी ऊंचाई पर पहुँचने का प्रयास किया जहाँ पर पहले नाटक पहुँचा था। ऐसा हुआ भी यही कारण है कि जहाँ पहले नाटक को 'दृश्यकाव्य' कहा गया था, वहीं अब उपन्यास को 'आधुनिक युग का महाकाव्य' कहा जाने लगा। इसके पूर्व साहित्य मे प्रमुख विधा काव्य के बाद दूसरा स्थान 'नाटक' का था, अब 'कविता'' के बाद उपन्यास आ गया फिर नाटक।

नाटक साहित्य की एक विधा है। प्रत्येक विधा अपने कथ्य के लिए अपरिहार्य हो जाती है। वस्तु के अनुसार हम रूप तलाशते हैं। रचनाकार का सृजनात्मक दबाव उसे अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी बनाता है, उसे सदैव सम्प्रेषण की चिन्ता रहती है। इसलिए वह सतत् उस भाव, अन्तर्वस्तु अथवा कथ्य के अनुसार विधा की तलाश करता रहता है। अत: निश्चित ही जो श्रेष्ठ नाटक है, उसका कथ्य किसी अन्य विधा के लिए उपयुक्त नहीं रहा होगा जिससे कि वह नाटक में व्यक्त हुआ है। नाटक साहित्य की वह विधा है जो अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचने के लिए दर्शकों की तलाश करती है। श्रेष्ठ नाटक अपनी व्यंजना शक्ति के कारण साहित्य की उस ऊचाई तक पहुंच जाता है जहाँ पर कविता की

---

21 हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 108।

अद्वितीयता है। कुछ अर्थो में कविता साहित्य की सभी विधाओ का आदर्श है किन्तु कविता को शब्दो के पार जाने के लिए भी शब्द अपरिहार्य है। नाटक इससे भिन्न है। वह उस ऊंचाई तक शब्द के अतिरिक्त अभिनय से भी पहुँचने का प्रयत्न करता है। यह अकारण नही कि विश्व की कई श्रेष्ठ कविताएं नाटक के रूप में लिखी गईं। यह नाटक का संस्कार है जो उसे रंगमंच पर उतरने के लिए बाध्य करता है और नाटक के 'पाठ' को रंगमच के माध्यम की तलाश रहती है।

अध्याय - तीन

पत्रकारिता और साहित्य की अंतरंग यात्रा

अध्याय - तीन

पत्रकारिता और साहित्य की अन्तरंग यात्रा

पत्रकारिता का सम्बन्ध जनसंचार माध्यम से है जो मुख्यत: हमारे वर्तमान युग की उपज है। दूसरी ओर साहित्य है, जो युगांतर से चले आने वाले कला माध्यमो के बीच अब भी प्रमुख और केन्द्रीय माध्यम है। जनसंचार माध्यम एक प्रकार से कलाओं के प्रसारण एवं प्रकाशन से सम्बन्धित है। संस्कृति की उपलब्धियाँ अब शिष्ट समुदाय तक सीमित नहीं मान ली जातीं, वरन् उनका संचरण बड़े वेग के साथ नीचे की ओर होता है। जनसंचार माध्यम इसके संचरण मे सहायक होते है।[1] पत्रकारिता भी यह भूमिका बखूबी निभाती है। लिखित शब्द के प्रमुख वाहको के रूप में पत्र-पत्रिकाएँ आज के साहित्य-सृष्टि को पाठक वर्ग तक पहुँचाने के लिए अनिवार्य और महत्वपूर्ण हैं। कहानी, कविता, आलोचनात्मक तथा ललित निबन्ध, एकांकी बल्कि उपन्यास और नाटक तक कोई ऐसी साहित्यिक विधा नहीं है जिसमें रची गई साहित्यिक कृति सबसे पहले पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही पाठक वर्ग तक न पहुँचती हो, चाहे वे दैनिक, साप्ताहिक समाचारपत्र हो अथवा विशुद्ध साहित्यिक पत्रिकाएँ, बल्कि बहुत सी रचनाएँ तो पुस्तकाकार प्रकाशित ही नहीं हो पातीं या बहुत देर से प्रकाशित होती हैं, और साहित्य में उनका प्रभाव और मूल्यांकन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के आधार पर ही होता है।[2] हंस, सरस्वती, चाँद और धर्मयुग आदि कुछ ही पत्रिकाओ का सर्वेक्षण कर लें तो उनमें प्रकाशित मात्र दस प्रतिशत रचनाएँ ही हैं जो पुस्तक रूप मे आ सकीं। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि पत्र-पत्रिका के किसी एक अंक में प्रकाशित केन्द्रीय धारा का कुछ साहित्य उस अक के साथ ही समाप्त हो जाता है। उदाहरण स्वरूप प्रेमचन्द के साहित्यानुसंधान में कुछ रचनाएँ ऐसी मिलीं जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। यदि उनकी खोज न की जाती तो वे मौलिक कृतियाँ प्रकाश मे न आ पातीं।[3]

---

1 माध्यम, मई 1964 में प्रकाशित लेख-साहित्य और पत्रकारिता, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 10

2 वही, नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ 10

3 डॉ0 कमल किशोर गोयनका से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य': योगेन्द्र प्रताप सिंह

आज लिखित शब्द के सप्रेषण के साथ पत्रकारिता इस प्रकार जुडी है कि सर्जनात्मक साहित्य को किसी स्तर पर उससे अलग कर सकना प्राय: असंभव है। किन्तु इस संबंध और परिस्थिति ने जहाँ साहित्य को एक विशाल अकल्पनीय पाठक समुदाय से जोड दिया है वहीं साहित्य की सृष्टि और उसके उद्देश्य के संबध में ऐसी भ्रान्तियॉ भी उत्पन्न कर दी हैं जिसके कारण साहित्य का अस्तित्व और उसका स्वरूप ही बहुत बार संकटग्रस्त जान पडता है।[4] इसलिए विवेचना में पत्रकारिता और साहित्य के संबध का जरूरी सन्दर्भ उठ खड़ा होता है।

समाचार-पत्रों के आने से पहले लिखने-पढने का आशय सिर्फ काव्य या साहित्य तक परिसीमित था। लेखक शब्द का मतलब था कवि या साहित्यकार। समाचार पत्रों अथवा मैगजीनों के लिए जानकारी से भरे साधारण लेख लिखने वालों को तो आज भी लेखक नहीं कहा जाता क्योकि इस शब्द ने परम्परा से जो अर्थ ग्रहण की है वह आज भी केवल काव्य अथवा साहित्य लिखने के अर्थ तक सीमित है। अंग्रेजी मे भी राइटर शब्द का अर्थ काफी कुछ हिन्दी के लेखक शब्द के अर्थ की तर्ज पर ही विकसित और स्थापित हुआ है। लिखने का दूसरी तरह का काम करने वालों को अंग्रेजी मे जर्नलिस्ट कहा जाता है, जिसका हिन्दी मे अनुवाद है पत्रकार। यह लिखने का मकसद यह साबित करना है कि पत्रकारिता का साहित्य के साथ अपने जन्मकाल से ही बहुत गहरा सम्बन्ध है, और जैसे-जैसे साहित्य और पत्रकारिता का विस्तार हो रहा है यह सम्वन्ध और भी ज्यादा गहरा होता चला जा रहा है। अब तो कई जगह से यह आवाज भी उठने लगी है कि पत्रकारिता को भी साहित्य की तरह रचनात्मक कार्य माना जाए और उनका संवन्ध संस्कृति के शब्द की शक्ति पर आश्रित पहलुओं के साथ जोड़ा जाए। जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है आरम्भ में साहित्यिक और राजनीतिक पत्रकारिता एकाकार थी[5] कालान्तर के व्यावसायिक दबाओं ने उसमें एक अन्तराल उपस्थित किया है।

अन्तर्सबंध का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

पत्रकारिता और साहित्य के अन्तरावलम्बन के लिए यह जानना आवश्यक है कि हिन्दी के दिग्गज साहित्यकारों का पत्रकारिता से क्या सम्बन्ध रहा है, तथा उन्होंने साहित्य लेखन के साथ पत्र-पत्रिकाओं के संपादन में अपना समय और धन क्यो जाया किया?

---

4 माध्यम, मई 1964 में इस विषय पर प्रकाशित परिचर्चा से, पृष्ठ 10

5 'जनसंचार' सम्पादित राधेश्याम शर्मा के 'माध्यम और भाषा' डॉ0 प्रभाकर माचवे, के लेख से, पृष्ठ 127

हिन्दी पत्रकारिता का उद्‌भव सन् 1926 ई. मे कलकत्ता से प्रकाशित 'उदंत मार्त्तण्ड' पत्र से हुआ। हिन्दी के इस प्रथम पत्र 'उदंत मार्त्तण्ड' के संपादक एवं प्रकाशक पंडित युगुल किशोर शुक्ल स्वयं साहित्यिक अभिरुचि के व्यक्ति थे। आधुनिक हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता का समानान्तर विकास हुआ। आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य एवं भाषा के विकास मे पत्रकारिता का अनन्य योगदान रहा है। यह किसी से छिपा नहीं है कि पत्रकारिता का जन्म एवं प्रारभिक विकास साहित्यिक अभिरुचियों का ही प्रतिफल है।[6] उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय पुनर्जागरण की जातीय अभीप्सा भारतेन्दु युग के साहित्य की ज्वलन्त पहचान है जो पत्रकारिता की सरणि से प्रकाशित और गत्वर हुई। हिन्दी पत्रकारिता के विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 15 अगस्त 1867 ई को 'कविवचन सुधा' नामक मासिक काव्य-पत्रिका को काशी से सम्पादित किया तथा उसके माध्यम से हिन्दी भाषा, साहित्य और पत्रकारिता को जनमानस के निकट लाकर जनचेतना का अंग बनाने का प्रयास किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने जीवन काल में तीन उपन्यास, सत्रह नाटक, एक निबन्ध सग्रह और अनेक काव्य पुस्तकों के साथ 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'कविवचन सुधा' तथा 'बालाबोधिनी' पत्रिका का संचालन और संपादन किया। इन पत्रिकाओं ने साहित्य के प्रचार-प्रसार के साथ नव-प्रतिभाओं का मार्ग भी प्रशस्त किया। भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य समकालीन साहित्यकारो ने भी पत्रकारिता को साहित्य के विकास के लिए एक संबल के रूप में अपनाया। हिन्दी निबन्ध की जड़ों को जमाने में प्रताप नारायण मिश्र द्वारा संपादित 'ब्राह्मण' और बालकृष्ण भट्ट द्वारा सपादित 'हिन्दी प्रदीप' की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतेन्दु युगीन लेखकों की व्यक्तिगत रचनात्मक उपलब्धि समान स्तर की नहीं थी, पर एक वृत्त के रूप में उनका योगदान अपने में विशिष्ट है। जिन पत्रिकाओं ने इन्हें जोड़ रखा था उनमें उपरोक्त पत्रिकाओं के अतिरिक्त कुछ नाम हैं : 'आनन्द कादम्बिनी' (प्रेमधन), 'सदादर्श' (लाला श्री निवास दास), 'बिहार बन्धु' (केशवराम भट्ट) एवम् 'भारतेन्दु' (गोस्वामी राधाचरण) आदि। साहित्य और

6 भारतीय पत्रकार जगत्, सितम्बर 1996 के लेख-हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, लेखक-बंगालीमल से, पृष्ठ 44

पत्रकारिता का यह विलक्षण समागम पुनर्जागरण युग की संश्लिष्ट चेतना के अनुरूप था।[7] इस काल की इन रचनाओं ने पत्रकारिता के माध्यम से पश्चिम की नयी चेतना से सम्पर्क का प्रयत्न किया।[8]

बीसवीं सदी में हिन्दी पत्रकारिता साहित्यिक-सास्कृतिक आन्दोलनो का आधार बनी। इससे साहित्यिक संवेदना और भाषा-संस्कार का धरातल क्रमश· उन्नत होता गया। सन् 1900 मे उस समय की मूर्धन्य पत्रिका 'सरस्वती' निकली जिसने गुरुतर दायित्वों के निर्वाह से पत्रकारिता एवं साहित्य जगत में युगांतर स्थापित किया। यद्यपि 'सरस्वती' के माध्यम से महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक विशिष्ट साहित्य पीढ़ी का संस्कार किया, तथापि 'सरस्वती' मे प्रकाशित सामग्री के विषय-वैविध्य को देखते हुए सीमित अर्थ में 'सरस्वती' को शुद्ध साहित्य- पत्रिका नही कहा जा सकता। व्यापक अर्थ मे सरस्वती सांस्कृतिक चेतना की पत्रिका थी, यद्यपि भाषा और साहित्य का विकास ही उसका प्रधान लक्ष्य था।[9] हिन्दी खडी बोली साहित्य को, मैथिली शरण गुप्त की कविता और प्रेमचन्द के कथा साहित्य को सामान्य पाठकों तक पहली बार 'सरस्वती' ने पहुँचाया , ज्ञान के अपरिचित आयाम के प्रति हिन्दी पाठकों को सुमुख किया।[10] जिस साहित्य पीढी को 'सरस्वती' ने प्रकाशित किया उसमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और रामचन्द्र शुक्ल आदि आधुनिक हिन्दी साहित्य के शीर्ष पुरुष हैं। 'भरत मित्र' संपादक बाल मुकुन्द गुप्त की ओजस्वी भूमिका का सूत्रपात 19 वीं शताब्दी के 'सार सुधानिधि' और 'उचितवक्ता' ने कर दिया था, जिसे परवर्ती काल मे 'हिन्द केशरी', 'कर्मयोगी', 'प्रताप', 'कर्मवीर', 'आज' और 'मतवाला' जैसी पत्र-पत्रिकाओं ने समृद्ध किया। 'शिवशम्भु के चिट्ठे' बालमुकुन्द गुप्त की राजनीतिक जागरूकता का ही केवल परिचय नहीं देता, बल्कि उनके निबन्धकार प्रतिभा का भी प्रमाण है। 'शिवशम्भु के चिट्ठे और खत' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित गुप्त जी का लेखन व्यक्तिव्यजक निबन्ध का श्रेष्ठ उदाहरण है। निजी सुख के प्रलोभन में पड़कर बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी की राह नहीं पकड़ी थी। देश की बड़ी संवेदना से जुडने के विवेक ने उन्हें हिन्दी का सेवाव्रती

---

7. दृष्टव्य, हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ104

8. वही, पृष्ठ 108

9. हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ 62·

10 वही, पृष्ठ 63

बनाया था।[11] इसलिए यह प्रांसगिक ही है कि पत्रकारिता को इन्होंने रचनात्मक हथियार के रूप में अपनाया।

सन् 1909 ई० में जयशकर प्रसाद की प्रेरणा से 'इन्दु' नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इसके सम्पादक पंडित रूपनारायण पण्डित स्वच्छन्द काव्य धारा के पुरस्कर्त्ता थे। 'इन्दु' में साहित्य की नई धारा की सूचना थी। इस पत्रिका ने उस स्वर को प्रस्तुत किया जो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सैद्धान्तिक आग्रहों के कारण 'सरस्वती' मे नहीं प्रकाशित होता था। यह नई दिशा स्वच्छन्द धारा की थी जिसे 'मतवाला' ने अधिक मुखर किया था। 'मतवाला' हिन्दी पत्रकारिता की वह महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसने हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ स्वछन्दतावादी कवि निराला को शीर्ष महत्व के साथ प्रस्तुत किया यानि हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी साहित्य आन्दोलन में 'मतवाला' की विशिष्ट भूमिका रही है।[12] इसके संपादकों में महादेव प्रसाद सेठ तथा वास्तविक सम्पादक सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', शिवपूजन सहाय, नवजादिक लाल, और बेचन शर्मा उग्र थे। अधिकांश अंकों मे निराला की कविता छपती थी। इस प्रकार निराला के पूर्ववर्ती काव्य के प्रकाशन का अधिकांश श्रेय निराला को है। इसके विपरीत आरंभिक काल से ही राजनैतिक आन्दोलनों से जुड़ गये 'उदंत मार्तण्ड' के सम्पादक युगुल किशोर शुक्ल, 'हरिश्चन्द्र', 'उचित वक्ता' के संपादक दुर्गा प्रसाद मिश्र, 'ब्राह्मण' के संपादक प्रताप नारायण मिश्र, 'अभ्युदय' के संपादक मदन मोहन मालवीय तथा 'मतवाला' के सम्पादक सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि ने जिस पत्रकारिता का आदर्श प्रस्तुत किया वह सामयिक परिवेश की एक अनिवार्यता थी।[13]

साहित्यिक पत्रिकाओं में 'माधुरी' का ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के यशस्वी लेखकों ने इसका संपादन किया। संपादक के रूप मे दुलारे लाल भार्गव का नाम इसमे वैसे ही छपता था जैसे 'मतवाला' में महादेव प्रसाद सेठ का। इसके वास्तविक सम्पादक थे पं० रूप नारायण पाण्डेय, पं० कृष्णबिहारी मिश्र और मुन्शी प्रेमचन्द। बाद में बाबू शिव पूजन सहाय और पं० शांतिप्रिय द्विवेदी भी

---

11. हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ 65

12 विस्तृत विवेचन के लिए दृष्टव्य-हिन्दी पत्रकारिता : जातीय चेतना और खडी बोली साहित्य की निर्माण भूमि, कृष्ण बिहारी मिश्र

13. हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास : बंगालीमल, भारतीय पत्रकार जगत्, सितम्बर, 1996 में प्रकाशित, पृष्ठ 45

'माधुरी' से जुड़ गये। इस प्रकार 'माधुरी' कार्यालय में साहित्यिको का वैसे ही जमावडा हो गया था जैसे मतवाला कार्यालय मे। या कहना चाहिए कि 'माधुरी' हिन्दी के कृति लेखको द्वारा वैसे ही सम्पादित हुई जैसे 'मतवाला', 'हस', और 'प्रतीक'।[14] प्रेमचन्द की 'हंस' मे महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं। इसका नामकरण जयशंकर प्रसाद ने किया था।[15] प्रेमचन्द के नेतृत्व मे 'हंस' बहुत दिनो तक कथा साहित्य का ही मुखपत्र रहा। 'हंस' के आरंभिक अको मे प्रसाद की कविताएँ प्रकाशित हुई। कामायनी के अंश इसके अनेक अंको के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुए।[16] परवर्ती काल मे श्री जैनेन्द्र कुमार, अमृत राय, बालकृष्ण राव, गजानन माधव मुक्ति बोध, शमशेर बहादुर सिंह एवं त्रिलोचन जैसे विशिष्ट कृति लेखकों के संस्पर्श और सक्रिय सहयोग मे यह पत्रिका प्रकाशित हुई। बडे-बडे लेखक अपनी रचना 'हंस' में प्रकाशनार्थ प्रेमचन्द के पास पहुँचाया करते थे।[17] हिन्दी उपन्यास और हिन्दी कहानी जगत् में प्रेमचन्द जी ने क्या योगदान किया, इस सम्वन्ध मे यहॉ कुछ कहने की जरूरत नही है। हॉ, यह याद करने की जरूरत अवश्य है कि हिन्दी जगत् के 'उपन्यास सम्राट' और 'कलम के सिपाही' के रूप मे जाने-माने इस लेखक को 'हंस' और 'जागरण' जैसी दो पत्र-पत्रिकाओ के सचालन और संपादन की जरूरत क्यों महसूस हुई थी। कहा जाता है कि इन पत्रिकाओ की माली हालत को सुधारने के लिए प्रेमचन्द को बम्बई की फिल्म लाइन का भी स्वाद चखने के लिए विवश होना पड़ा था।[18] इसी तरह 'मनोरमा', 'चाँद', 'सुधा', 'मर्यादा', 'नई धारा', 'आलोचना', 'विश्वभारती पत्रिका', 'साहित्यकार', 'कहानी', 'ज्ञानोदय', 'राष्ट्रवाणी', 'आजकल', 'वसुधा', 'जया पथ', 'नई कहानियॉ' आदि पत्रिकाओं ने साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय श्रीवृद्धि की।

प्रेमचन्द के बाद तो हिन्दी के मूर्धन्य कवियो एवं लेखको की एक लम्बी फेहरिस्त बनती चली गई जिन्होंने उच्च कोटि के लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता से जुड़ाव को भी साहित्य के प्रचार तथा

---

14 हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ 66

15 शिवपूजन रचनावली, भाग-4, पृष्ठ 216

16 हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ 66

17 दृष्टव्य, कलम का सिपाही, अमृत राय

18 जनसंचार , संपादित राधेश्याम शर्मा के 'पत्रकारिता और साहित्य - राकेश वत्स, के लेख से, पृष्ठ 203

प्रसार के लिए अत्यन्त आवश्यक समझा। सच्चिदानन्द हीरानद वातस्यायन 'अज्ञेय' ने 'दिनमान' जैसे साप्ताहिक की केवल नींव ही नहीं रखी, वल्कि उसका सम्पादन भो किया और बाद में वे 'नवभारत टाइम्स' जैसे दैनिक के चीफ एडिटर भी रहे।[19] जिस वर्ष भारत को राजनीतिक स्वाधीनता मिली उसी वर्ष यानि 1947 में अज्ञेय की द्विमासिक पत्रिका 'प्रतीक' प्रकाशित हुई। जैसे 'हंस' के साथ एक साहित्यिक आन्दोलन का इतिहास जुडा है वैसे ही 'प्रतीक' के द्वारा भी एक साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। यह हिन्दी में नवलेखन का आन्दोलन था। प्रगतिवाद का आन्दोलन 'हंस' के साथ आगे बढ़ा था और डॉ0 रामविलास शर्मा की बात सच है कि 'प्रयोगवाद' की शुरुआत 'तार सप्तक' से नहीं होती, उसकी शुरुआत होती है सन् 47 मे 'प्रतीक' से। प्रतीक का लक्ष्य परम्परा से सर्वथा विछिन्न होना नहीं था।[20]

धर्मवीर भारती एक लम्बी अवधि तक 'धर्मयुग' का सफल संपादन करते रहे। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहन राकेश और कमलेश्वर 'सारिका' का सम्पादन करते रहे हैं। कमलेश्वर तो 'श्रीवर्षा' से होते हुए 'गंगा' में आए। राजेन्द्र यादव को अंतत: 'हस' को पुनर्जीवित करने की जरूरत महसूस हुई। रघुवीर सहाय चिरकाल तक 'दिनमान' के सम्पादक रहे। भैरव प्रसाद गुप्त पहले 'नई कहानी' के कुशल सम्पादक रहे और उसके बाद उन्होने अपनी 'प्रारम्भ' नामक पत्रिका का श्रीगणेश किया। भीष्म साहनी ने भी काफी समय तक 'नई कहानी' का सम्पादन किया। अमृतराय भी पहले 'हंस' और उसके बाद 'नई कहानी' का सम्पादन करते रहे। ज्ञानरंजन चिरकाल से 'पहल' जैसी समर्थ पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं। महीप सिंह भी कई दशको से 'संचेतना' चला रहे हैं। मनोहर श्याम जोशी टी० वी० के साथ जुड़ने के पहले 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सपादक थ। अशोक बाजपेयी 'पूर्वग्रह' का सम्पादन कर रहे हैं। शानी 'समकालीन' का संपादक पद सम्हालने से पहले 'साक्षात्कार' का संपादन करते रहे हैं। प्रख्यात व्यंगलेखक हरिशंकर परसाई रामेश्वर प्रसाद गुरु के साथ प्रगतिशील पत्रिका 'वसुधा' के सम्पादक थे। शरद जोशी ने भी बम्वई से कुछ समय के लिए निकलने वाली पत्रिका 'हिन्दी एक्सप्रेस' का सम्पादन किया था। केवल इतना ही नहीं, नये-पुराने साहित्यकारों की एक लम्बी

---

19 जनसंचार, राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 203

20 हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ 76

फेहरिस्त है जो उनके पत्रकारिता के साथ जुड़ाव के माध्यम से साहित्य-सेवा के रहस्य को हमारे सामने खोलती है। सर्वेश्वर-दयाल सक्सेना, उदय प्रकाश, सुदीप, हिमाशु जोशी, रमेश उपाध्याय, सतीश जमाली, राजेन्द्र अवस्थी, कन्हैयालाल नन्दन, अवध नारायण मुद्गल, डॉ0 धनंजय वर्मा, से० रा० यात्री, केशव सोमदत्त, प्रभाकर श्रोत्रिय, बलराम, रमेश गौड, मणिका मोहिनी, मंगलेश डबराल, धीरेन्द्र अस्थाना, डॉ० विनय, रमेश बतरा, धर्मेन्द्र गुप्त, जगदीश चतुर्वेदी, द्रोणवीर कोहली, अब्दुल बिस्मिल्लाह, अमरकांत, मार्कण्डेय, रमेश बक्षी, मधुकर सिह, ओम प्रकाश ग्रेवाल, आनन्द प्रकाश और राकेश वत्स आदि के नाम किसी न किसी स्तर पर पत्रकारिता के साथ जुडे हुए नाम हैं।[21]

पत्रकारिता के इतिहास में भाषा एवं साहित्य के निर्माण की भूमिका में वे सम्पादक भी थे जिन्होंने किसी साहित्यिक ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया। यथा पराडकर जी न केवल आधुनिक हिन्दी पत्रकारिता के जनक थे अपितु हिन्दी भाषा और साहित्य के भी अनन्य उन्नायक थे। दैनिक पत्रों के सम्पादन तथा नित्य संपादकीय लेखो के लिखने के बाद उन्हें अवकाश ही कहाँ मिलता कि वे साहित्यिक पुस्तकों का प्रणयन करते। फिर भी 'आज' तथा 'संसार' आदि पत्रों में लिखे उनके लेख तथा अनेकानेक टिप्पणियाँ हिन्दी साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है।[22] उन्होने अपनी समस्त शक्ति और प्रतिभा पत्रकारिता की श्रीवृद्धि के निमित्त समर्पित कर दी थी। इतना होने पर भी साहित्य निर्माण का प्रश्न उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ था, अपितु 'आज' के माध्यम से वे सदा साहित्य तथा साहित्यकारों की समस्याओं पर लिखा करते थे और अन्य विद्वानों से भी लिखवाया करते थे। एक समय था जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति तथा सम्मेलन की अन्य परिषदों के अध्यक्षों के पूरे भाषण 'आज' में प्रकाशित होते थे। हिन्दी जगत् मे पराड़कर जी साहित्य, भाषा तथा पत्रकारिता के आचार्य रूप में समादृत थे। यही कारण है कि तत्कालीन साहित्यकार अपनी पुस्तकों की भूमिकाएँ उनसे लिखवाने के लिए उत्सुक रहते थे।[23] भाषा और साहित्य के क्षेत्र में फैली अव्यवस्था एवं उच्छृंखलता की आपने न केवल आलोचना ही की अपितु स्थिति सुधार के रचनात्मक सुझाव भी दिए।

---

21 जनसंचार : राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 203

22 पराडकर और पत्रकारिता (साहित्य खण्ड), पृष्ठ 148

23 पराड़कर जी और पत्रकारिता, पृष्ठ 149

[24] विष्णुराव पराड़कर जी का अभिमत था कि सम्पादको तथा पत्रकारों ने भारतीय भाषाओं का गद्यांग प्रारम्भ और पुष्ट किया।[25] आचार्य श्री किशोरीदास बाजपेयी का कथन है कि पराडकर जी ने साहित्य का ही नहीं; साहित्यकारो का भी निर्माण किया।[26] हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानी लेखक तथा निबन्धकार पंडित बेचन शर्मा 'उग्र' को साहित्य जगत् मे अवतीर्ण तथा अग्रसर करने का श्रेय पराड़कर जी को ही है।[27] इस प्रकार पराड़कर जी ने हिन्दी गद्य को नयी अभिव्यंजना दी और उसको प्रेरणामय बनाया।

आपकी ख्याति न केवल भारतीय स्वाधीनता तथा राष्ट्रीय पुनरुत्थान के प्रेरक के रूप मे थी वरन् साहित्य के क्षेत्र में एक सर्जक के रूप मे मान्यता भी थी। वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रथम पंक्ति के साहित्यकारों के निर्माता एवं प्रेरणाकेन्द्र भी थे।[28]

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के अंत में राजनीतिक और साहित्यिक पत्रकारिता अलग-अलग होकर चली। सन् 1907 में कलकत्ते से शुद्ध राजनीतिक पत्रिका 'नृसिह' प्रकाशित हुई। परवर्ती काल में दैनिक पत्रों में राजनीतिक पत्रकारिता सिमट गई। 'प्रताप', 'आज', 'हिन्दी केशरी', 'अभ्युदय', 'कर्मवीर', 'संघर्ष', 'जीवन साहित्य', 'जन', 'पाञ्चजन्य', 'भूदान', 'जनयुग', 'मुक्तधारा' आदि विभिन्न राजनैतिक दलों और विचारों को लेकर चलने वाली पत्र-पत्रिकाएँ हैं।

'संघर्ष', 'सर्वोदय', 'जन', 'राष्ट्रधर्म', 'गॉधी मार्ग' सीमित अर्थ में साहित्यिक पत्रिकाएँ नहीं हैं पर विभिन्न विचार सरणि और विविध अनुशासन के विचार-परिवेशन द्वारा इन पत्रिकाओं ने साहित्य को वैचारिक पृष्ठिका पुष्ट की है। विचार और भाषा के विकास में 'दिनमान' आजादी के बाद की अप्रतिम संवाद-पत्रिका रही है। उसमें राजनीतिक समाचार सामग्री के अलावा साहित्यि-सांस्कृतिक टिप्पणियाँ भी रहती थीं, साहित्यिक कृतियो की समीक्षा भी। साहित्य के उन्नयन और समृद्धि में जिन

---

24 पराड़कर जी और पत्रकारिता पृष्ठ 150

25 पराड़कर जी और पत्रकारिता पृष्ठ 157

26 पराड़कर जी और पत्रकारिता पृष्ठ 192

27 पराडकर जी और पत्रकारिता पृष्ठ 193

28 पराड़कर जी और पत्रकारिता पृष्ठ 158

दैनिक पत्रों का महत्वपूर्ण योग रहा है उनमे 'प्रताप', 'आज' और 'भारत' विशिष्ट है। 'जनसत्ता', 'नवभारत टाइम्स', 'नई दुनियाँ', 'राजस्थान पत्रिका' और राची के छोटे पत्र 'प्रभात खबर' में स्तरीय साहित्य सामग्री छपती रही है। अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक भूमिका के लिए 'आज' सर्वाधिक चर्चित पत्र रहा है। पराड़कर जी ने 'आज' का स्तर इतना उन्नत और पुष्ट कर दिया था कि उस सरणि में जागरूकता के साथ चलते बहुत दिनों तक उसके रविवासरीय अक में स्खलन नहीं आया और पन्त जैसे कवि उसे देखने के लिए उत्सुक रहते थे। पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी दिनचर्या का जिक्र हुए करते जीवन के उत्तरकाण्ड में लिखा था कि "साप्ताहिक 'आज' भी जरूर पढता हूँ।" 'भारत' का साप्ताहिक परिशिष्ट भी बहुत महत्वपूर्ण होता था। इसका साहित्यिक स्तर उस समय अधिक उन्नत था जब पं० वेकटेश नारायण त्रिपाठी और पं० नन्द दुलारे बाजपेयी इसके सम्पादकीय विभाग मे थे। छायावाद के वृहद्त्रयी की चर्चा पं० नन्द दुलारे बाजपेयी ने 'भारत' के माध्यम से ही चलायी थी। प्रसाद और दूसरे छायावादी कवियों पर आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की समीक्षा सबसे पहले 'भारत' में ही प्रकाशित हुई थी।[29]

स्पष्टत: पत्रकारिता और साहित्य की ऐतिहासिक यात्रा मे साहित्य को पत्रकारिता के संबल की जरूरत हुई। चूँकि पत्र-पत्रिकाएँ ही उसे पाठको के उस वर्ग तक पहुँचा सकती थी जिसके लिए अब वह अपने साहित्य को रचने का दावा करता था। पत्रकारिता ने इसकी इस जरूरत को पूरा भी किया। शायद ही कोई ऐसा पत्र या पत्रिका होगी जिसमें किसी न किसी रूप मे साहित्य के लिए स्थान सुरिक्षत नहीं किया जाता होगा। कविता, गजल कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक, एकांकी नाटक, आलोचना, संस्मरण, रिपोर्ताज, शब्दचित्र और अब फिल्म के रूप मे इस्तेमाल होने वाली लघुकथाएं और क्षणिकाएँ, गर्ज यह कि साहित्य के नाम पर रचे जाने वाला सभी कुछ पत्र-पत्रिकाओं में धड़ल्ले से छपता है। यहाँ तक कि फिल्म और समाचार पत्रिकाएं भी उसकी उपेक्षा नहीं कर पातीं। अच्छी और बुरी रचनाओं की जानकारी देने वाली समीक्षाओ को भी पत्र-पत्रिकाओं में उपयुक्त स्थान मिल रहा है। इस बात को देखते हुए एक सुखद आश्चर्य जो अभिभूत करता है वह यह है कि अब साहित्य केवल जिल्द चढ़ी पुस्तकों में कैद होकर प्रकाशकों और पुस्तकालयों के रहमों कर्म पर ही जिन्दा नहीं है, वह

---

29 हिन्दी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृष्ठ 73

अब सीधा अपने पाठको तक पहुँचने की सहूलियत मे है। साहित्य को अपने बलबूते पर जिन्दा रहने का रास्ता वास्तव में पत्रकारिता ही ने दिखाया है। इसके लिए साहित्य को पत्रकारिता का आभारी होना चाहिए। पत्रकारिता ने लोगों में पढ़ने की रुचि, उन्मुक्तता, जागरूकता और चेतना पैदा की।[30]

पत्रकारिता वर्तमान सन्दर्भ में

हिन्दी पत्रकारिता के प्रारम्भ में पत्रकारिता जगत् पर साहित्य का पर्याप्त दबदबा रहा, बाद में पत्रकारिता पर लोकतांत्रिक जिम्मेदारियों के आ जाने से उसका दायित्व और बढ़ गया तथा लेखक के कैनवास का विस्तार होता गया। यहाँ पर आकर पत्रकारिता का उद्देश्य मात्र भाषा और साहित्य का निर्माण नहीं रहा बल्कि उस पर सूचना, शिक्षा और मनोरंजन का दायित्व आ पड़ा। मनोरंजन का दायित्व इसलिए भी क्योकि नगरीकरण के विस्तार से धीरे -धीरे लोकमाध्यम लुप्त होने लगे और स्वतंत्रता के बाद राष्ट्र निर्माण ने सूचना और शिक्षा के लिए आगे बढ़ने हेतु पत्रकारिता को प्रेरित किया। साहित्य पर भी इस तरह के गुरुतर दायित्व किन्तु साहित्य अपने विकास के अगले चरण में धीरे-धीरे प्रयोगशील एवं कलात्मक होने लगी। इसने रूप और कथ्य दोनो में विभिन्न प्रयोगों को अपनाया। इस परिस्थिति में शुद्ध साहित्य के सम्प्रेषण के लिए पत्रिकाएँ अयोग्य सिद्ध होने लगीं। पत्रकारिता पर पड़ते घोर व्यावसायिक दबावों ने भी उसको साहित्य से अलग दिशा की ओर सुमुख किया। किसी भी पत्रिका का एक निश्चित पाठक वर्ग होता है जिसकी एक खास रुचि और बौद्धिक स्तर होता है। सामान्य पत्रिकाएँ प्रायः सामान्य पाठकों पर निर्भर रहती हैं। मात्र साहित्यिक रुचि के पाठकों पर नहीं। इन कारणों से वर्तमान में साहित्य और पत्रकारिता की अंतरंगता में कुछ कमी आ गई है।

पत्रकारिता आज स्वतंत्र एवं आत्मनिर्भर विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है एवं इसका शास्त्र विकसित हो चुका है। यह विशेषीकृत पत्रकारिता का युग है जिसमें साहित्यिक पत्रकारिता, खेल पत्रकारिता, फिल्म पत्रकारिता, विज्ञान पत्रकारिता, राजनैतिक पत्रकारिता आदि विभिन्न शाखाओं का विकास हो चुका है। पत्रकारिता के लिए यह शुभ लक्षण है किन्तु इसका सर्वाधिक प्रभाव साहित्य पत्रकारिता पर ही पड़ा। व्यावसायिक दृष्टि से साहित्यिक पत्रकारिता बहुत लाभवर्द्धक नहीं होती है

---

30 जनसंचार, संपादित राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 206

इसलिए व्यावसायिक प्रकाशन प्रतिष्ठान साहित्यिक पत्रकारिता में अपनी पूँजी नहीं लगाते है। अतः यह अकारण नहीं है कि शुद्ध साहित्यिक पत्रकारिता लघु पत्रिकाओ के माध्यम से हो रही हैं और सामान्य पत्रकारिता में साहित्य हाशिए पर है।

पत्रकारिता की स्वतंत्र इयत्ता ग्रहण कर लेने पर पत्रकारिता एवं साहित्य का पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। पत्रकारिता में अब समाचार महत्वपूर्ण है। वैसे यह होना ही था क्योकि उसे लोकंतत्र के चौथे स्तंभ के रूप में जो मान्यता मिलने लगी इसके दबाब मे पत्रकारिता समसामयिकता के प्रति विशेष आग्रही हो गई। इस परिस्थिति में दैनिको का महत्व बढने लगा। वहुत सी पत्रिकाएँ अपने प्रकाशन की अवधि कम करने लगीं। 'इंडिया टुडे' पाक्षिक से साप्ताहिक हो गई। बडे प्रकाशन समूहों के कई स्थानीय संस्करण निकलने लगे। इसके पीछे कहीं न कहीं इलेक्ट्रानिक मीडिया से होने वाली प्रतिस्पर्धा ही काम कर रही थी। 'इंडिया टुडे' के संपादक अरुण पुरी ने इसको पाक्षिक से साप्ताहिक करते समय अपने संपादकीय में ऐसा लिखा भी कि किसी घटना की सूचना देने की शक्ति जो पत्रकारिता के पास थी उसे अब इलेक्ट्रानिक माध्यमों ने ले लिया। इस प्रकार पाठकों के बीच घटना की एफ० आई० आर० करने की जो शक्ति थी उसे और द्रुत गति से इलेक्ट्रानिक माध्यम करने लगे। यही नहीं इन्टरनेट के माध्यम से शब्द कागज पर से स्क्रीन पर स्थानापत्र होने लगे।

पत्रकारिता के विकास के लिए यह शुभ लक्षण था। लेकिन इसके साथ ही पत्रकारिता ने क्षिप्रता में हड़बड़ी को भी अपना लिया। इस हड़वड़ी में मुद्रित शव्द की शाख घटने लगी और तकनीक प्रधान होने लगा। विकास के इस चरण पर गंभीर लेखन को छवियों ने स्थानापन्न करना शुरू कर दिया। अतः आज समाचार पत्रों के पृष्ठों का रंगीन मुद्रण आवश्यक हो गया। गंभीर लेखन संपादकीय पृष्ठ पर सम्पूर्ण अखबार के दसवें से सोलहवें भाग मे आकर सिमट गया। यही नहीं रचनात्मक लेखन के लिए मात्र परिशिष्टों में ही जगह रह गयी। सभी साप्ताहिको में सांस्कृतिक विषय-साहित्य, ललित-कला, रंगमंच, प्रदर्शनियाँ आदि सिमटकर एक पृष्ठ पर आ गए। कहानियाँ सभी देते हैं पर वे अधिकतर भावुक, करुण या क्रोधभरी।

विकास के इस पड़ाव पर पत्रकारिता से भाषा एवं साहित्य के सजग प्रहरी या तो विलुप्त हो गए। अथवा प्रभावहीन हो गए। पराड़कर जी की पत्रकारिता के संबंध में यह भविष्यवाणी शब्दशः

सत्य होने लगी कि "आगे चलकर पत्र सर्वांग सुन्दर होगे, आकार बडे, छपाई अच्छी होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी और मनोहारिणी शक्ति भी होगी। ग्राहको की संख्या लाखों में गिनी जायेगी। यह सब होगा, पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति देशभक्त, धर्मभक्त अथवा मानवता के उपासक महाप्राण संपादकों की नीति न होगी। इन गुणों से सम्पन्न लेखक विकृत मस्तिष्क वाले समझे जायेंगे। संपादकों की कुरसी तक उनकी पहुँच भी नहीं होगी। वेतन भोगी संपादक मालिक का काम करेंगे। वे हम लोगों से अच्छे होंगे। पर आज हमे जो स्वतंत्रता प्राप्त है, उन्हे न होगी। वस्तुत: पत्रों के जीवन मे यही समय का मूल्य है। इंग्लैण्ड और अमेरिका के पत्रों ने उन्ही दिनों सच्चा काम किया था, जब उनके आकार छोटे थे। समाचार कम होते थे, ग्राहक थोडे थे, पर संपादक की लेखनी में ओज और प्राण था। इन देशों की उन्नति के बहुत कुछ कारण वे ही सपादक थे जिनसे धनी घृणा करते थे, शासक क्रुद्ध हुआ करते थे और जो हमारे ही जैसे एक पैर जेल मे रखकर धर्मबुद्धि से पत्र संपादन किया करते थे। उनके परिश्रम और कष्ट से पत्रों की उन्नति हुई, पर उनके वंश का लोप हो गया। अब संचालक और व्यवस्थापक सर्वेसर्वा हैं, संपादक कुछ नहीं हैं। इस इतिहास से हमें उपदेश ग्रहण करना चाहिए। समय रहते सावधान हो जाना चाहिए।"[31]

हमाऱा प्रेस अभी तक संभ्रान्त वर्ग की रुचियों-अभिरुचियों का ख्याल रखता है, जिन पर अंग्रेजों का अधिक प्रभाव है। यह सही है कि स्वतंत्रता के बाद क्षेत्रीय भाषाओं और राष्ट्र भाषा हिन्दी में भी काफी अखबार निकलने लगे है लेकिन अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं का अभी भी काफी प्रभुत्व है। इस सम्बन्ध में क़वि नागार्जुन की टिप्पणी कितनी सटीक है कि हिन्दी पत्रकारिता अग्रेजी के रास्ते पर जा रही है, मगर अंग्रेजी पत्रिकाओ के मुकावले दीन हीन है।

अखबार राष्ट्र की आत्मा होनी चाहिए। लोकतत्र में प्रेस की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी जनता को सरकार चुनने या बदलने की आजादी है।[32] जहाँ तक इनके उत्तरदायित्व एवं प्रमाणिकता की बात है, उसके बारे में यह टिप्पणी उचित ही है कि टेलीप्रिंटरों से छन कर अखबार के डेस्क और मशीनों से गुजर कर जो सच्चाई अखबार के पन्नों पर उतरती है, उसमें मानवीय आँच नहीं

---

31 हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वृन्दावन वाले 1925 के अधिवेशन में पराड़कर जी द्वारा दिए गए भाषण का अश

32 'समकालीन पत्रकारिता : मूल्यांकन और मुद्दे', पृष्ठ 102

होती, न किसी तरह का दायित्व बोध मानो वे किसी दूसरे लोक की घटनाएँ होती हैं। इसकी वजह यह है कि जिन माध्यमों से भी ये तथाकथित सच्चाईयाँ अखबार के पन्नो तक पहुँचती हैं उन माध्यमों का मानवीय सरोकार नहीं होता। आजादी के पूर्व जो खबर बनाते थे वे स्वय उस खबर का एक जीवंत हिस्सा हुआ करते थे। लेकिन अब जो खबर बनाने मे लगे हैं, वे खबरो घटनाओ के तटस्थ दर्शक होते हैं, पर्यवेक्षक होते हैं। अतः समाचारों मे मानवीय ऊष्मा आये तो कैसे? पत्रकारिता को व्यवसाय में बदलने का एक अवश्यंभावी परिणाम यह भी हुआ कि जब पत्रिकाएँ खबरों के सौदागर के रूप में और पाठक खबरों के उपभोक्ता के रूप में बदल गये, तो हत्या और भ्रष्टाचार की खबरों ने प्रमुखता पायी और वह भी इस तरह कि पाठकों को मजा दे, पाठक उनको पढने में रस ले। मथुरा कांड और माया त्यागी जैसे कांड भी तिलमिलाहट और आक्रोश जगाने के बजाय पाठकों मे एक तरह का जुगुप्सा-रस पैदा करने लगे। यह चमत्कार पत्रकारिता ने भाषा को बाजारू बना कर दिखाया।[33] आज पत्रकारिता पर यह आरोप लगता है कि मीडिया के गैर जिम्मेदार लोग भाषा को भ्रष्ट कर रहे हैं। आज अखबार को पढ़कर शुद्ध भाषा नहीं सीखी जा सकती है। हालाकि इसके बचाव मे पत्रकारिता जगत का यह तर्क रहता है कि हिन्दी में संवाद समितियों का न होना इसका मूल कारण है, जिसकी वजह से समाचार पत्रों को अनुवाद पर निर्भर रहना पडता है। लेकिन इसे पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता है।

वस्तुतः मीडिया अपनी इस जिम्मेदारी के प्रति सचेत नहीं है। पहले संपादक किसी अभद्र शब्द के स्थान पर कर्णप्रिय एवं हृदयग्राही शब्द देने के लिए व्यग्र रहते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पास एक विद्वान् लेखक का ऐसा लेख 'सरस्वती' मे प्रकाशित करने के लिए आया जिसमें उन्होंने लिखा था 'काबुल में गधे भी होते हैं।' द्विवेदी जी कई दिनों तक सोचते रहे कि कैसे इस अंश को निकालें कि गधा शब्द न रहे और अर्थवत्ता मे अंतर न आए। बहुत विचार के बाद उन्होंने इस पंक्ति को यों सुधार दिया। 'काबुल में सब घोड़े ही नहीं होते।' समकालीन पत्रकारिता में शायद ही थोड़े पत्रकार ऐसा संपादन करने वाले हों। अब तो बिना अर्थ समझे 'चूना लगाया' लिखा जाता है, जिसे सुसंस्कृत व्यक्ति कभी नहीं बोल सकता। किसी स्त्री, खासकर अविवाहित लड़की की अस्मत लुट जाने

---

33 समकालीन पत्रकारिता : मूल्यांकन और मुद्दे के 'सवेदना का क्षय', श्यामा प्रसाद प्रदीप के लेख से, पृष्ठ 168

के समाचार में लड़की या स्त्री का नाम इसलिए नहीं दिया जाता था कि उसकी अधिक बदनामी न हो। पराड़कर जी ने 'बलात्कार' शब्द का प्रयोग प्रतिबन्धित कर दिया था। उसकी जगह 'शीलभंग', 'शीलहरण' शब्द लिखे जाते थे। आज की पत्रकारिता में बलात्कार शब्द ही नहीं लिखा जाता बल्कि आततायी के हबिस की शिकार नारी का नाम और पता फोटो के साथ छापा जाता है। पत्र और पत्रकार यह नहीं समझते कि इस तरह का प्रचार हो जाने पर समाज में उस बेचारी अबला की क्या स्थिति होगी। किसी दुर्घटना का ऐसा चित्र पहले कभी नहीं दिया जाता था जिसमे शव क्षत-विक्षत पड़ा हो और दृश्य बड़ा वीभत्स हो।

यह स्वत: मान्य नियम इसलिए था कि इस तरह के चित्र देखकर मृतक के नजदीकी लोगों को बहुत तकलीफ होती है और कमजोर हृदय के हो तो उन्हें दिल का दौरा भी पड़ सकता है। समकालीन पत्रकारिता जैसे इस बात को सोचती नहीं।[34] आज की पत्रकारिता लेविंस्की-क्लिंटन के प्रकरण का इस तरह से विवरण प्रस्तुत करती है मानो अश्लीलतम पत्रिकाएँ झूठी हो। इस प्रकार के दोष पत्रकारिता में अनायास आते नहीं दिखते है बल्कि शीर्षको तक में भड़काऊ और वीभत्स शब्द देकर पत्रकारिता को ग्लैमरस बनाया जाता है। हालांकि साहित्य के बेस्ट सेलर का यथार्थ भी यही है। लेकिन प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के वातावरण को निर्मित किसने किया?

हिन्दी भाषा में बहुत सी विकृतियाँ अंग्रेजी के प्रभाव के कारण भी आयी हैं।[35] पत्रकारिता में पत्रकार को सभी विषयों पर लिखना पड़ता है। एक व्यक्ति सभी विषयों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता है अत: जब वह सभी विषयों पर लिखता है तो पारिभाषिक शब्दावलियों को या तो यथावत लिख देता है अथवा उसका विद्रूप सरलीकरण कर देता है। इस तरह अनभिज्ञता एवं गैर-जिम्मेदारी में वह ऐसी भाषा को गढ़ता है जिसे आम बोल-चाल की भाषा में हम अखबारी भाषा के मुहावरे से जानते हैं जिसका

---

34 समकालीन पत्रकारिता: मूल्यांकन और मुद्दे संपादक : राज किशोर के 'विशेषताएँ और विसंगतिया' : श्यामा प्रसाद प्रदीप के लेख से

35 वही, पृष्ठ 27

अधिकांश रूप अंग्रेजी से अनुवादित, यांत्रिक और न्यायहीन भाषा है। समकालीन पत्रकारिता में सब दोष नहीं कुछ अच्छाईयॉ भी हैं। कभी-कभी तो ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जो बहुत ही प्रभावशाली होते हैं। जैसे बाजार भावों के समाचार में चना लुढका, चावल चढ़ा अथवा सड़क की खराबी का वर्णन करते हुए शीर्षक दिया गया 'मुजफ्फनगर की गर्भ गिराऊँ सडकें। सडक की दुरावस्था का वर्णन के लिए 'गर्भगिराऊँ' से अधिक शक्तिशाली शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। लेकिन यह शब्द शालीन होने के बजाय बहुत फूहड़ है।[36]

साहित्यिक पत्रकारिता

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का उद्‌भव सन् 1867 से माना जा सकता है। साहित्यिक पत्रकारिता के विकास की दिशा मे वालकृष्ण भट्‌ट द्वारा संपादित 'हिन्दी प्रदीप' का विशेष महत्व है। इस पत्रिका का प्रकाशन सन् 1877 मे प्रयाग मे आरम्भ हुआ था, यह हिन्दी की पत्रिका थी। परन्तु इसमे राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी रचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं। इस कारण सरकार द्वारा इसका प्रकाशन प्रतिबधित कर दिया गया था। बीसवी शताव्दी के द्वितीय चरण में विशेष रूप से भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता का अपेक्षाकृत विशेष रूप से विकास हुआ।[37] इस समय साहित्य की अनेक उत्कृष्ट पत्रिकाएं निकलीं किन्तु

काल के प्रवाह में आगे भाषा की स्तरीयता साथ पत्र पत्रिकाओं ने साहित्यिक-सांस्कृतिक गरिमा को भी खोया देखते-देखते अधिकांश साहित्यिक पत्रिकाएँ बन्द हो गईं—जैसे 'सरस्वती', 'सुधा', 'माधुरी', 'चाँद', 'हंस', 'विश्वामित्र', 'विशाल-भारत', 'अवंतिका', 'आरती', 'हिमालय', 'प्रतीक', 'माध्यम', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय', 'नयी कहानी', 'नया साहित्य', 'कथाभारती', 'साहित्य दृष्टिकोण', 'पाटल' 'क-ख-ग', 'युग चेतना', 'राष्ट्रवाणी', 'राष्ट्रभाषा', 'संदेश', 'अंजता', 'कवि कविता' 'साहित्य, संदेश', 'समालोचक', 'सन्दर्भ भारती', 'नया समाज' आदि। इसी के साथ स्तरीय एवं लोकप्रिय पत्रिकाएँ जैसे 'धर्मयुग', 'सारिका', 'दिनमान' साप्ताहिक हिन्दुस्तान' आदि भी बन्द हो

---

36 'जन सचार', संपादित : राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 128

37 'भारतीय पत्रकार जगत', सितम्बर 1996 के लेख, 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' - बंगालीमल, पृष्ठ 451

गयीं। सम्प्रति सिर्फ रह गयी वे पत्रिकाएँ जो जासूसी या सेक्सी सत्य कथाएँ मिर्च मसाले लगाकर परोसती हैं। या संस्था विशेष की या धार्मिक सगठन की पत्रिकाएँ है। यह स्थिति बहुत शोचनीय है। किसी जमाने में पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक समालोचना, ग्रन्थालोचना का स्तर अच्छा था। अब 'आलोचना', 'समीक्षा' जैसी एक दो पत्रिकाएँ समालोचना के लिए हैं। शेष तो एकदम सतही रिव्यू देकर अपना काम टालती हैं। सरकारी पत्रिकाएँ दाएं-बाएं देखकर बच-बचकर चलती हैं। वहाँ निष्पक्षता का अर्थ किसी भी प्रकार के मताग्रह का अभाव या 'रामाय स्वास्ति, रावणाय स्वास्ति' होता है। सेठाश्रयी पत्रिकाएँ भी यही कूटनयिक मार्ग अपनाती हैं और थोडा-थोडा सभी राजनीतिक पक्षों, सभी तरह के मध्यमार्गी विचारों के समर्थन मे सामग्री छापती है। इस तरह से वे सब तरह के पाठको को खुश करना चाहती हैं। परिणामत: युवा या नये लेखको को प्रोत्साहित करने वाली अच्छी साहित्यिक पत्रिकाएँ नहीं के बराबर हैं और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी में मौलिक विचारों का सर्वथा अभाव है। पिष्टपेषण और चर्वित-चर्वण अधिक है।[38]

उपरोक्त अच्छी पत्रिकाओं के बन्द होने के कारणो का विश्लेषण यथेष्ट है। इन पत्रिकाओं को बुलन्दियों तक ले जाने वाले अधिकांश आज भी हैं। नई पीढी भी कम प्रतिभाशाली नहीं है। आज ढेरों महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं। मजाक में नहीं वास्तविक रूप मे। उनसे कहीं अधिक कुशल और जाग्रत संपादक आज मौजूद हैं। लेकिन ये सब मिलाकर भी एक 'सरस्वती' नहीं निकाल सकते। स्वयं धर्मवीर भारती भी अपने जमाने का 'धर्मयुग' दोबारा नहीं निकाल सकते। अवसर आने पर भी नहीं।[39] फिर भी ये पत्रिकाएँ क्यों बन्द हुई। यह स्वयं भी शोध का विषय है। प्रसंगात इनके अवसान के कारणों की चर्चा भी आवश्यक है। इनके बन्द होने का एक कारण इनके मालिकों की पीढ़ी का बदल जाना था, नयी पीढ़ी अंग्रेजी परस्त थी।[40] जिसके लिए पत्र-पत्रिकाएं एक उत्पाद की तरह थीं, सेवा या मिशन इनका ध्येय कभी नहीं हो सकता था। दूसरा सूचना की भूख ने अधिकांश मासिकों, साप्ताहिकों को

---

38 जनसंचार- राधे श्याम शर्मा के 'माध्यम और भाषा : प्रभाकर माचवे' का लेख, पृष्ठ 129

39 मीडिया और साहित्य : सुधीश पचौरी

40. डा0 अवध नारायण मुद्गल, पूर्व सम्पादक सारिका, से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

स्थानापन्न कर दैनिक समाचार पत्रो की प्रतिष्ठा कर दी। पत्रिकाओं से अधिक यह समय दैनिकों का हो गया। हम दैनिक युग में रह रहे है।[41]

समाचार पत्र एवं पत्रिका मे एक अंतर स्थापित हो गया कि समाचार पत्र का महत्व एक दिन का होता है, दूसरे दिन वह बासी हो जाता है। जब कि पत्रिका मे सरक्षण शक्ति (Preservation state) होती है।[42] इस बदलती परिस्थिति मे साहित्यिक-सांस्कृतिक फीचर के आधार पर पत्रिका नहीं चला सकते। इनका भी अपना महत्व है। लेकिन इनसे जगह भरकर ही पत्र-पत्रिकाएँ नहीं चलाई जा सकतीं।[43] आज पत्रिका के लिए बड़े व्यावसायिक तंत्र की आवश्यकता है, संवाददाताओं के पूर्ण तन्त्र की जरूरत है। इसके प्रकाशकों का साहित्यिक पत्रकारिता से हाथ खींचने का दूसरा कारण यह हो सकता है कि आज के ग्लैमर के युग में प्रिंट मीडिया की समाज मे एवं सरकार पर जो धौंस है वह साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता के आधार पर नहीं की जा सकती है।

प्रतिष्ठित और अधिक सर्कुलेशन वाली पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करने वाले प्राय: सभी संस्थान देश के बड़े धन-कुबेरों या बड़े उद्योगपतियो के हाथो की कठपुतली हैं। साहित्यकारों एवं उस साहित्य को संस्थानों द्वारा उचित प्रोत्साहन या प्रकाशन नहीं मिल पाता जिसे लेकर वे आम जनता तक पहुँचना चाहते हैं। इसी मूल मुद्दे को लेकर लघु पत्रिका आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। फलत: आज हजारों की संख्या में लघु पत्रिकायें हर मास प्रकाशित होती है और साहित्यकार साहित्य सृजन के साथ-साथ उस साहित्य को आम पाठकों तक पहुँचाने के सबसे बडे संबल पत्रकारिता के साथ भी अपने पाठकों से पूरी तरह से जुड़ा हुआ महसूस कर रहा है। कई बार यह आवाज भी सुनाई देती रहती है (जो काफी हद तक ठीक भी है) कि असली या सार्थक साहित्य तो इन लघु पत्र-पत्रिकाओं में ही

---

41 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 126

42 डा० अवध नारायण मुद्गल, पूर्व सम्पादक सारिका, से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

43 श्री अशोक कुमार, एसोसिएट अडीटर इंडिया टूडे से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'सचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

प्रकाशित होता है।[44] इन लघु पत्रिकाओ के रूप मे साहित्यिक पत्रकारिता आज भी है। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'दिनमान' आदि पत्रिकाओ के बन्द होने का मतलब यह नहीं है कि सारी साहित्यिक पत्रिकाएं बन्द हो गयीं। बड़े मठाधीशो की पत्रिकाएँ जिसे लगता है कि वे लाभप्रद नहीं हैं तो वे उसे बन्द कर देते हैं। लेकिन लघु पत्रिकाओ के ससार मे आज भी हजारो पत्रिकाएँ देश में निकल रही हैं।[45] यह बदलाव जरूर आया है कि पाठक समुदाय सीमित हो गए हैं। ये पत्रिकाएँ उन पारिवारिक पत्रिकाओं की तरह प्रतिष्ठित नहीं हैं और न ही ये विशाल व्यावसायिक तंत्र की उत्पाद हैं। इनकी हालत आज बाजार तन्त्र की पत्रिकाओं की तुलना मे अच्छी नहीं कही जा सकती। इन लघु पत्रिकाओं की कुछ सीमाएँ भी हैं। इन लघु पत्रिकाओ मे अधिकांश व्यक्तिगत प्रयासों की फलश्रुति हैं। इनमें कुछ तो मात्र निजी आत्म प्रकाशन के लिए हैं और कुछ वैचारिक शिविरों की प्रचारक मात्र। इन लघु पत्रिकाओं की कुछ और समस्याएँ हैं। अच्छे प्रतिष्ठित लेखक इन लघु पत्रिकाओं में छपना अपनी बेइज्जती समझते हैं। जो थोड़ा बहुत प्रचार-प्रसार के आकाक्षी हैं वे तो छप जाते हैं लेकिन थोडा सा भी नाम होने पर वे अच्छे पारिश्रमिक की उम्मीद करते हैं जो ये पत्रिकाएँ नहीं दे सकतीं। ये पत्रिकाएँ स्वयं आर्थिक नुकसान उठाकर मिशनरी भाव से विज्ञापन एवं बाजार तन्त्र के अभाव में अधिकांश प्रतियों को मित्रों, साहित्यकारों और समीक्षकों को बाँटकर निकाली जा रही है तथा साहित्य संवर्धन कर रही हैं।[46] फिर भी यह संतोषप्रद है। ये लघु पत्रिकाएँ सोद्देश्य रचनाधर्मिता का निर्वाह कर रही हैं।

पत्रकारिता की स्वतंत्र इयत्ता का प्रश्न

साहित्य एवं पत्रकारिता में अलगाव तब उत्पन्न हुआ जब पत्रकारिता स्वायत्त इयत्ता ग्रहण कर संपूर्ण व्यावसायिक व्यक्तित्व के रूप मे खड़ा हुआ। इस स्थिति में आकर मीडिया अपने उद्देश्य एवं प्रयोजनशीलता में साहित्य से भिन्न हो जाती है। यह भिन्नता साहित्य के लिए बड़ा उलझन पैदा करती

---

44 जन संचार : सम्पादित, राधेश्याम शर्मा के पत्रकारिता और साहित्य· राकेश वत्स के लेख से पृष्ठ 206

45 डा0 कमल किशोर गोयनका से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'सचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

46 डा0 अवध नारायण मुद्‌गल, पूर्व सम्पादक सारिका, से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

है[47] हालांकि साहित्यकारों की अपेक्षा पत्रकारो की ओर से उस पार्थक्य का आग्रह कम ही रहता है।[48] जब पत्रकारिता मिशन से व्यावसायिक हो गया तब उसके लेखन के तकनीक के आविष्कार की आवश्यकता महसूस हुई। किसी भी व्यावसायिक कार्य की दक्षता के लिए तकनीक एवं शैली की अपेक्षा होती है। पहले समाचार बिल्कुल साहित्यिक शैली में क्रोनोलोजिकल आर्डर में या कालक्रम के अनुसार लिखे जाते थे। इसमें पाठक को सारतत्व काफी पढने के बाद मिलता था। फिर वह समाचार का अर्थ निकालता था। हर पाठक के पास न इतना पढने का समय होता है और न उसके अर्थ गूढ तत्व को समझने की क्षमता।[49] समाचार लिखने के उल्टे पिरामिड के सिद्धान्त की खोज से समाचार लेखन की काया ही पलट गयी। इसमे लीड, इन्ट्रो या सिनाप्सिस के रूप मे समाचार के सार को प्रारम्भ में ही लिख दिया जाता है, फिर उस समाचार का पल्लवन किया जाता है। इससे शैली की दृष्टि से पत्रकारिता साहित्य से भिन्न हो गयी और इसे एक बडी क्रान्ति के रूप में देखा गया। व्याख्यात्मक पत्रकारिता के साथ रिपोर्टिंग की भाषा ही साहित्य से भिन्न हो गई।

हार्ड न्यूज मे उल्टे पिरामिड के सिद्धान्त से समाचार लेखन प्रारम्भ हुआ, लेकिन साफ्ट न्यूज में अवसर को तलाश कर संवेदनात्मक स्पर्श के साथ साहित्यिक भाषा के प्रयोग की चेष्टा की गई और फीचर लेखन की पद्धति का विकास हुआ। पत्रकारिता के अभ्यास में परिवेश के प्रति सर्तकता का महत्व बढ़ा जिसे पत्रकारिता की भाषा में न्यूज सेन्स कहा गया। इस प्रकार पत्रकारिता में तकनीक और शैली के विकास से साहित्य का पार्थक्य रूपायित होने लगा और साहित्य एवं पत्रकारिता के अन्तर्सबन्धों पर चर्चा होने लगी।

पूर्व की पत्रकारिता ने साहित्य को विस्तार देने के साथ कई विधाएं भी विकसित होने में मदद की, किन्तु मात्र विधा के आधार पर किसी रचना को 'साहित्य' अथवा 'पत्रकारिता' की कोटि में रखने का निर्णय करना कठिन है, क्योंकि पत्रकारिता की कोई ऐसी विशिष्ट विधा नहीं हैं जो साहित्य सर्जन के लिए उपयुक्त न बनायी जा चुकी हो। रिपोर्ताज, डायरी, स्केच, आदि तो पूरी तरह साहित्य की

---

47 'माध्यम' मई 1964 में प्रकाशित, 'साहित्य और पत्रकारिता : नेमिचन्द जैन' का लेख, पृष्ठ 11

48. 'माध्यम' मई 1964 में प्रकाशित, बालकृष्ण राव का लेख पृ० 23

49 समकालीन पत्रकारिता : मूल्यांकन और मुद्दे, संपादक राजकिशोर, पृष्ठ 23

विधाओं के रूप में स्वीकृत हो ही चुके हैं 'रेडियो नाटक', 'फीचर' आदि भी तेजी से साहित्यिक विधा की मान्यता प्राप्त करते जा रहे हैं। डिलन टामस ने तो फिल्म का एक 'सिनारियो' ही लिख दिया जिसका अच्छे-अच्छे समीक्षकों ने नि:संकोच श्रेष्ठ साहित्यिक कृति के रूप में अभिनंदन किया। सच तो यह है कि इसकी कल्पना ही संभव नहीं है कि शब्दो से निर्मित कोई भी रचना ऐसी हो सकती है जिसे प्रतिभा संपन्न लेखक साहित्य के स्तर तक न पहुँचा सके और यदि हम मान सकते हैं तो फिर यह कैसे स्वीकार करें कि पत्रकारिता के लिए साहित्य के स्तर तक उठ जाना संभव नहीं है क्योकि दोनों की निर्मिति का आधार भाषा है, शब्द है।[50]

पत्रकारिता और साहित्य : भेद और विशिष्टता

साहित्य और पत्रकारिता के इन सम्बन्धों ने दोनो के स्वरूप मे काफी अंतर भी उपस्थित किया है तथा इसके उद्देश्यों को भी प्रभावित किया है। इससे एक अजीब अन्तर्विरोध उपस्थित हुआ है। पत्रकारिता के प्रभाव मे साहित्य व्यावसायिकता की तरफ बढा है और पत्रकारिता रचनात्मकता की तरफ खिसकने लगी है। यहीं से साहित्य पर यह आरोप लगाने की गुंजाइश पैदा हो गई कि वह अखबारी बनता चला जा रहा है और साथ ही पत्रकार भी यह आवाज बुलन्द करने लगे हैं कि उनके लेखन को भी साहित्य की कोटि में रखा जाए। लेकिन प्रतिष्ठित साहित्यकारों और साहित्य की शुद्धता के पक्षधरों ने इसका विरोध किया है। इस विरोध के कारणों तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों क्षेत्रों के विषमता की विवेचना कर ली जाए।[51]

विशेषज्ञों के मत में पत्रकारिता एवं साहित्य मे मौलिक अन्तर रचनात्मकता को लेकर है। साहित्य की अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है जबकि पत्रकारिता मे सपाट बयानी होती है। पत्रकारिता का कार्य बिना सर्जनात्मकता के चल सकता है लेकिन साहित्य का नहीं। साहित्य जो कुछ भी अभिव्यक्त या संप्रेषित करता है, रचनात्मक बनाकर करता है जबकि पत्रकारिता जिन्दगी के घात-प्रतिघातों अथवा

---

50. माध्यम, मई 1964 के बालकृष्ण राव के लेख से, पृष्ठ 23

51 जन संचार : संपादित राधेश्याम शर्मा के पत्रकारिता और साहित्य . राकेश वत्स के लेख से, पृष्ठ 206

उसके स्थूल यथार्थ को अपने पाठकों तक पहुँचाने की कोशिश करती है। आधार दोनों का शब्द ही रहता है।[52]

वैसे सर्जनात्मकता किसी भी कला-कृति का पहला, सर्वोपरि और अनिवार्य गुण है। जबकि संचार माध्यमों में सर्जनात्मकता कुछ होती भी हो तो वह भी किन्हीं अन्य स्थितियो से आक्रान्त रहती है।[53] जैसे पत्रकारिता की सर्जनात्मकता सूचना या समाचार से आक्रान्त रहती है। समाचार निबन्ध अथवा फीचर लेखों का उद्देश्य सूचना प्रदान करना है और दूसरे पत्रकारिता प्राय: आम जनता को सम्बोधित होती है। अतएव पत्र-पत्रिकाएँ अपनी एक अलग भाषा गढते है। पत्रकारिता का लेखन तात्कालिक होता है समयब्रद्ध होता है। समाचार लिखना है तो मूड बनाने का समय नहीं है। इस कारण रचनात्मकता अधिक आ भी नहीं कर सकती। यही स्थिति पत्रकारिता की अन्य विधाओ के लेखन में भी है। पत्रकारिता का लेखन वस्तुत: मांग-पूर्ति के आधार पर होता है यहाँ ऐसा नहीं है कि लेखक उसे अन्त : प्रेरणा से लिखने के लिए विवश हो जाए। यहाँ पहले तय हो जाता है और माँग होती है कि इस विषय पर समाचार, फीचर, निबन्ध अथवा सम्पादकीय लिखकर दीजिए। तो फिर दबाव में लिखा यह लेखन रचनात्मक हो भी कैसे सकता है रचनात्मकता जब जी-चाहे जिस किसी रचना में मनमाने ढंग से पैदा नहीं की जा सकती। कुछ क्षण या एक समय विशेष ऐसा होता है जिसमें रचनाकार की रचना में वह बिना बुलाए मेहमान की तरह स्वयं आ सकती है, या 'पुहुप वास' की तरह स्वयं प्रकट हो जाती है। शब्द की ताकत की सीमा का एहसास उस वक्त होता है जब हम रचनात्मकता को समझने या समझाने के लिए शब्द का चयन करने लगते हैं। पूरी कोशिश करने पर यूँ लगता है जैसे बहुत कुछ अनकहा रह गया है या पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं हो पाया है। यह किसी श्रेष्ठ या अपने समय की पढ़ने की परम्परा या आलोचना को चुनौती देने वाली रचना के साथ भी होता है। रचना में बहुत कुछ अभिव्यक्त या अनकहा रह जाता है, वास्तव में वह अनकहा ही रचना का प्राणतत्व है। उस प्राणतत्व को बिना कहे ही जो शक्ति रचना के पाठकों के मन-मस्तिष्क और आत्मा तक पहुँचा देती है, मुझे लगता है शायद वही शक्ति रचनात्मकता की शक्ति होती है। यह शक्ति पत्रकारिता के स्तर पर लिखे

---

52 वही, पृष्ठ 207

53. पत्रकारिता और साहित्य -रामस्वरूप चतुर्वेदी, माध्यम, 1968 पृष्ठ 19

गए लेखन में नहीं हो सकती क्योंकि पत्रकार को तो जरूरत के मुताबिक तुरन्त लेख या टिप्पणी तैयार करनी होती है। वह साहित्यकार की तरह रचनात्मक क्षणों की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। साहित्यकार के पास यह सहूलियत होती है कि जब उसको अन्तर से प्रेरणा मिले, रचनात्मक क्षणो का दबाव महसूस हो तब लिखे। अगर कोई साहित्यकार प्रेरणा या दबाव की प्रतीक्षा किये बिना साहित्य का सृजन करता है तो उसका साहित्य भी रचनात्मकता विहीन या अखबारी साहित्य ही होता है। सच कहा जाए तो वह साहित्य होता ही नहीं है। व्यावसायिक किताबों का निर्माण करने वाले लेखकों के लेखन मे सबसे बड़ी कमी यही रहती है कि उसमें रचनात्मकता नहीं होती है। हॉ, कभी-कभी पत्रकार के हाथ से लिखे जाने वाले लेख भी रचनात्मक क्षणों मे से तपकर निकलने के कारण रचनात्मकता से परिपूर्ण होते है। ऐसे लेख पाठकों के ह्दय पर अच्छी साहित्यिक रचनाओं जैसा ही प्रभाव छोडते हैं। अज्ञेय और रघुबीर सहाय के कई लेख इसके लिए उदाहरण के रूप मे पेश किये जा सकते है।[54] यह रचनात्मकता ही संचार माध्यम या पत्रकारिता के लेखन को साहित्य की ऊँचाई तक ले जा सकती है। पत्रकारिता मे इस तरह से उत्पन्न साहित्याभास के कारण ही इसे अस्थायी अथवा तात्कालिक किस्म का साहित्य सृजन कहते हैं या दूसरे शब्दों मे यह कि पत्रकारिता जल्दी मे लिखा गया साहित्य है।[55]

साहित्य में मौलिकता इसी सृजनात्मकता के कारण आती है। इसे रचना और रचनाकार दोनों का निजी वैशिष्ट्य कहा जा सकता है। जिस रचना मे यह सृजनात्मकता या मौलिकता, या निजी वैशिष्ट्य जितना अधिक होगा वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ होगी।[56] रचना की यह विशिष्टता और मौलिकता संवेदना, रचना दृष्टि, अभिव्यक्ति शिल्प अथवा सम्प्रेषण के कारण होती है जबकि पत्रकारिता के लेखन की विशिष्टता या मौलिकता नए समाचार अथवा समाचार के नये पहलुओं को देने में होती है। कभी-कभी पत्रकार भी साहित्यिक, संवेदनात्मक शैली में समाचार और फीचर लिख कर विशिष्टता लाने की कोशिश करते हैं। यह साहित्याभास भले हो, साहित्य नहीं है।

---

54 'जन संचार,संपादित-श्री राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 208

55 अच्युतानन्द मिश्र, संपादक जनसत्ता से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'सचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

56 साहित्य और सामाजिक मूल्य, डा0 हरदयाल, पृष्ठ 46

पत्र-पत्रिकाएँ प्राय: जीवन के बाह्य दृश्य पर, अत्यत तात्कालिक तथा सामयिक पक्ष पर अधिक ध्यान देती हैं। इससे उसमें एक विचित्र प्रकार की वर्णनात्मकता आ जाती है। अखबारी भाषा तथा साहित्य की भाषा एक होते हुए भी भिन्न हो जाती है। साहित्य की भाषा भाव-चित्रात्मक होती है जब कि पत्रकारिता की भाषा तथ्यात्मक। साहित्य की भाषा मे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शब्द शक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं। ये एक ही साथ कई अर्थो की अभिव्यजना कर सकती है जबकि पत्रकारिता की भाषा के लिए यह सीमा रहती है कि वह एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करे। साहित्य मे नए एवं क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं लेकिन पत्रकारिता इससे बचती है। पत्रकारिता के प्रशिक्षण में व्यंगात्मक लहजे में कहते भी हैं कि 'जो साहित्यकार है वे अपनी कलम बन्द कर दे। क्योंकि वह कठिन शब्दों का प्रयोग करता है।' पत्रकारिता में वस्तुनिष्ठ, तथ्यपरकता और इन्द्रियगोचर यथार्थ के संप्रेषण तथा तात्कालिक प्रभावशीलता की माँग है। इसके विपरीत साहित्य चेतना के गहरे स्तरों का संस्कार या उसके क्षितिज का विस्तार है। मात्र सूचना या तथ्यों के सुमुच्चय मे वृद्धि नहीं, यह अनुभूति और जीवन के सत्य का दर्शन है। इन्द्रियगोचर बाह्य यथार्थ से अधिक आत्मा का सत्य है। इसी कारण कई बार यह तर्क भी दिया जाता है कि साहित्य व्यक्ति को सवेदनशील बनाता है और पत्रकारिता संवेदनहीन।

श्रेष्ठ पत्रकारिता में यथार्थ को साधारण दर्पण के समान यथावत् प्रतिबिब कर सकना उद्दिष्ट और वांछनीय अथवा पर्याप्त होता है, परन्तु साहित्य का जीवन-दर्पण उस रूप मे नहीं, वह एक विशेष प्रकार का दर्पण है जिसमें जीवन का एक विशेष समायोजित यथावत् से भिन्न दर्शक सापेक्ष रूप दिखायी पड़ता है। साहित्य जीवन के अस्पष्ट, धुँधले, अस्फुट सम्बन्धों को मुखर करता है, रूपहीन-आकारहीन भावों और विचारों को रूप और आकार देता है, जीवन के उलझे-बिखरे सूत्रों में सार्थकता और उनके परस्पर निहित सम्बन्धों को उजागर करता है। वह यथार्थ का यथावत् चित्र नहीं रचनाकार की विशिष्ट अनुभूति द्वारा रूपायित संस्कृत अभिव्यक्ति है।[57]

---

57 'माध्यम' 1964 मई पृष्ठ 14

अखबार किसी घटना का यथा तथ्य वर्णन कर देते है। साहित्यकार इन घटनाओं की आनुभविक सत्यता की अभिव्यक्ति करता है। इसके लिए वह कल्पना, नाटकीयता आदि का सहारा लेता है। घटना या तथ्यों को जानकर समाज या व्यक्ति मे कुछ रचनात्मक परिवर्तन हो ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलता है। यदि ऐसा होता तो नित्य समाचार मे सैकड़ो घटनाओ के समाचार होते है उससे समाज परिवर्तित हो जाता। किन्तु अनुभव के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि साहित्य मनुष्य के मानस परिवर्तन में सहयोगी है। सद्साहित्य पाठक का मन:परिष्कार करते हैं। समाचार पत्रों में प्रकाशित अपहरण, हत्या, शीलभंग, चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार आदि की घटनाएँ इसके प्रति पाठकों को उदासीन कर रही हैं तो दूसरी ओर साहित्य समाज की संवेदना को सुरक्षित रखने का प्रयत्न कर रहा है। साहित्य में विचार अनुभूति के स्तर पर आकर रचना को सपृक्त और पुष्ट करती है। जबकि आज की पत्रकारिता विचारो को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करती है। प्रिन्ट मीडिया मे विचारों की व्यापकता है, यह विचार समाचार और लेख के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। किसी समाचार मे इन्ट्रो या लीड के बाद महत्वपूर्ण व्यक्तियों के विचारों का उद्धरण होता है। उद्धरणात्मक स्वरूप इस बात को इंगित करते हैं कि ये लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनमत और अभिमत की अभिव्यक्तियाँ हैं। दूसरे, इसमें इसी विचारों की अभिव्यक्ति हैं जो प्रासंगिक अर्थ ग्रहण करते हैं। साहित्यिक कृति में विचार तत्व गौण होता है। कृति स्वयं पाठक को विचार के लिए उत्तेजित करती है अपने किसी विचार का प्रक्षेपण प्राय: कम करती है।

साहित्य एवं पत्रकारिता दोनों समाज परिवर्तन के माध्यम है। पत्रकारिता सूचना, जनमत की अभिव्यक्ति, कर्त्तव्य एवं अधिकार के प्रति जनता को सचेत करते हुए समाज परिवर्तन में अहम् भूमिका निभात है, जबकि साहित्य मनुष्य के अंत:करण-निर्माण एवं दृष्टिकोण-परिवर्तन करके समाज को बदलाव की दिशा में प्रेरित करता है। साहित्य समस्याओं का स्थायी समाधान देने के लिए सचेष्ट रहता है। साहित्य ही एक ऐसा माध्यम है जो मनुष्य को अन्त:करण की रोशनी में देखता है, आविष्कार करता है और मनुष्य को देश, काल, स्मृति, संस्कृति और उसकी जातीय स्मृति के साथ रखकर, उसके पूरे परिदृश्य को दृष्टि में रखकर के कि मनुष्य की हैसियत, वह कैसे कब कहाँ चला, उसके परिणाम क्या निकले, आगे क्या निकलेंगे, सारे परिदृश्य पर एक निष्कर्ष देता है और मनुष्य को सावधान करता

है। जो मनुष्य को भीड़ की तरह बदलने का काम करता है वह साहित्य नहीं है।[58] संभवत: इसीलिए प्रेमचन्द ने कहा कि साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं है बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुए चलने वाली सचाई है।[59]

साहित्य और पत्रकारिता का एक अतर सनसामयिक परिवेश से सम्बद्ध करने वाले सूत्रो की स्पष्ट- दृश्यता और अदृश्यता पर आधारित है। पत्रकारिता वह साहित्य है जिसके समकालीन परिवेश से उसे जोड़ने वाले सूत्र स्पष्ट देखे जा सकते है। साहित्य वह पत्रकारिता है जिसे सामयिक परिवेश से जोड़ने वाले सूत्र पाठक ही नहीं वल्कि रचनाकार भी कभी कभी नही देख पाता है। पत्रकारिता के लिए तात्कालिक प्रभाव प्रधान होता है जबकि साहित्य शाश्वत छोरो को छूता है। साहित्यकार केवल समसामयिक भाव को सम्बोधित नहीं करता, उसका निवेदन मात्र अपने समय और अपने समाज के लिए ही नहीं है, उसके कथ्य की सार्थकता अजर-अमर है, उसकी रचना का सौष्ठव अनश्वर है। पत्रकार अपने समय की समस्याओ से उलझता है, समकालीनो को सम्वोधित करता है, उन्हें किसी विशिष्ट दिशा में कुछ करने कहने अथवा सोचने की प्रेरणा देना उसका तात्कालिक ही नहीं प्रधान उद्देश्य होता है।[60] पत्रकारिता में जनमत की अभिव्यक्ति होती है। लेकिन इसका मतलब कदापि नहीं है कि पत्रकारिता का लेखन सदैव तात्कालिक होता है और साहित्य का शाश्वत। रचना अपने रचनाकार के समकालीन यथार्थ से जन्म लेती है। वह अपनी समकालीनता में देश और काल दोनो से बँधी होती है। फलत: किसी भी श्रेष्ठ रचना में उसका समकालीन देश और काल प्रतिबिम्वित होता है।[61] पत्रकार का लेखन केवल उसके अपने समय के लिए ही सार्थक नहीं होता है। दोनों देश और काल के आयामो पर अपनी-अपनी विशिष्ट परंपराओ के अतिरिक्त उस संश्लिष्ट सास्कृतिक परंपरा से, उस सामाजिक चेतना प्रवाह से भी सम्बद्ध है जिससे उन्हे अपनी बात औरो को निवेदित करने की प्रेरणा और शक्ति

---

58 हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 46 वें अधिवेशन, वम्बई मे शैलेश मटियानी के भाषण का अश, साभार, सम्मेलन कार्य विवरण पत्रिका,

59 साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द, पृष्ठ 22

60 माध्यम, मई 1964 के राम स्वरूप चतुर्वेदी जी के लेख मे पृष्ठ 24

61. साहित्य और सामाजिक मूल्य, डा० हरदयाल, पृष्ठ 45

मिलती है। प्रत्येक साहित्यकार अनिवार्यत· पत्रकार भी है। बर्नार्ड शा के शब्दो मे ''ऐसा कुछ भी साहित्य के रूप मे दुनिया में बहुत दिनो तक जीवित नही रह सकता जो पत्रकारिता भी न हो। जो व्यक्ति अपने और अपने समय के बारे मे लिखता है, केवल वही सचमुच समस्त मनुष्यता और सभी युगों के लिए लिख सकता है।[62]

अपने प्रारम्भिक जीवन में रचनात्मक लेखन की रुचि के कारण से बहुत से व्यक्ति पत्रकारिता के क्षेत्र मे पदार्पण करते हैं, क्योकि कहानी, कविता या अन्य किसी विधा का साहित्यिक लेखन प्रतिदिन नहीं किया जा सकता है। अत: अधिकाश पत्रकार जो अपने पूर्ववर्ती जीवन मे साहित्य लिखने की ओर प्रवृत्त हुए आगे चलकर उन्होने तात्कालिक समस्याओ पर लिखना शुरू किया और पत्रकारिता की ओर प्रवृत्त हुए। स्वतन्त्र लेखको के अतिरिक्त बहुत से ऐसे पत्रकार है जो दोनो क्षेत्रों के लेखन से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे पत्रकार यह मानते हैं कि पत्रकारिता उनके लिए अनुभवों का संसार उपस्थित करती है जो साहित्यिक लेखन के लिए उपयोगी होता है।[63] प्राय· ऐसा देखने मे आता है कि साहित्यकार के अनुभव सीमित होते हैं जिसकी वजह से उनके लेखन में आन्तरिक अनुभवों की पुनरावृत्ति होने लगती है। किन्तु साहित्यकार के पास सवेदना एवं दृष्टि होती है, शैली और क्राफ्ट होता है। दोनों इस दृष्टि से एक दूसरे के पूरक होते हैं। माध्यम साहित्य के लिए संप्रेषण के अवसर प्रदान करते हैं और साहित्य पत्रकारिता को संवेदनायुक्त करता है। इस तरह से साहित्यकार पत्रकारिता को रचनात्मक बुलन्दियों तक उठा सकता है। साहित्यकार एवं पत्रकार मे उद्देश्यगत समानता है, दोनों मानव संबंधों की तलाश करते हैं। मनुष्यों के बीच बन रहे नये सम्बन्धो को बताना चाहते हैं। दोनों के कृतित्व में पूर्ण समानता न हो फिर भी दोनो मे उद्देश्यगत समानता है। दोनों ही तथ्यों का प्रयोग अपने-अपने अनुसार करते हैं। पत्रकार के लिए यथार्थ वही है जो सभव हो चुका हो, साहित्यकार के लिए वह है जो संभव हो सकता है।

---

62 माध्यम, मई 1964, बालकृष्ण राव के लेख 'साहित्य और पत्रकारिता' मे, पृष्ठ 25

63 डॉ० रामशरण जोशी, ब्यूरो चीफ नयी दुनिया दिल्ली मे लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य:- योगेन्द्र प्रताप सिंह'

दोनों यदि घटनाओं के भीतर छिपे अर्थ नही खोजते तो दोनो असफल रहते हैं। सूचनाएँ संग्रहीत कर सजा देना सफल पत्रकारिता नहीं है, उसी प्रकार जैसे केवल भावनाओं को संग्रहीत कर देने वाला साहित्यकार असफल है। जिस हद तक ये दोनो प्रकार के लेखक घटनाओं के भीतर मानव संबन्ध के बदलते रूप देखते हैं, उस हद तक वे एक दूसरे के निकट आते हैं। ठण्ड से होने वाली मौतो के बारे में पत्रकार से उसकी जाँच की अपेक्षा की जा सकती है। संभ्रान्त साहित्यकार से ठंड मे अकड़कर मरे हुए आदमी के लिए इतनी संवेदना दुष्कर है कि वह उसको लेकर साहित्य रच सके। उस मृत्यु में न मृत्युबोध है न सत्रास क्योंकि वह भोगा हुआ यथार्थ आदि नहीं है। तथापि पत्रकार के लिए ऐसा कोई सच्ची अनुभूति वाला बधन नहीं है। वह तटस्थ होकर जॉच शुरू कर सकता है, वह ठण्ड में मरने वाले के प्रति पक्षधर हो सकता है। और अपने जाँच के अंतिम परिणाम का भी पक्षधर हो सकता है। हर हालत में पत्रकार का ही यह काम है कि मृत्यु की ऐसी ठडी खबरे पढने के अभ्यस्त लोगों को बताए कि हर साल कुछ विशेष वर्गो के लोग ही ठंड में मरते हैं और उनके मन से यह भ्रान्ति दूर करे कि ये लोग जाड़े में बर्फ का मजा लेने निकले ये और दुर्घटना मे मर गये। यदि पत्रकार यह काम करता है तो वह साहित्यकार हो या न हो आप उसके कृतित्व को साहित्यिक पत्रकारिता कह सकते हैं, इसलिए कि उसमें वही जिज्ञासा है जो साहित्यकार मे होनी चाहिए, इसलिए नहीं कि उसने अपना वृतान्त साहित्यिक शैली में लिखा है।[64]

पत्रकारिता में मानव समाज के दर्द को समझने वाली कविता, घटनाओं को कहानी की तरह लिखने वाली कल्पनाशीलता, इतिहास लिखने वाली पटुता, राज्य को मजबूत बनाने वाली शिल्प कला, दिल तक पहुँचने वाली मीठी या तीखी भाषा, बर्फीले पहाड, रेगिस्तान या अपार सागर के बीच रह सकने वाला धैर्य, स्वर्ग के सुख और नरक के कष्ट मे भी रखे जा सकने वाले संयम की अनिवार्यता आवश्यक है। दुर्भाग्य यह है कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान बड़े राजनीतिक हथियार का काम करने वाली पत्रकारिता की प्राथमिकता को आजादी के पचास साल बाद भी सही दिशा नहीं मिल पाई। ब्रिटिश राज के दौरान तत्कालीन सत्ता को उखाड फेंकना तथा भारत को स्वतंत्र कराना पत्रकारिता का सही और एकमात्र लक्ष्य था। लेकिन आज इसका लक्ष्य क्या केवल सत्ता के महल पर बने गुंबदों

---

64 लिखने का कारण, निबन्ध सग्रह, रघुवीर साहय, पृष्ठ 30

के इर्द-गिर्द मडराकर उसे दुलारना या नोचना हो सकता है। राजनीति ही समाज का जीवन नहीं है, समाज के प्राण हैं। धूल-धूसरित गाँव, आधुनिक सुविधाओ से वचित बढते कस्बे, आकाश को चूमने के लिए बेताब महानगरों में हँसते-गाते और चलते-फिरते लोग। कई बार ऐसा लगता है कि भारतीय पत्रकारिता अपनी वास्तविक भूमिका से विमुख हो रही है। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि अखबार क्या कुछ छाप रहे हैं, महत्वपूर्ण यह है कि पाठक कितना ग्रहण कर रहे हैं।

स्पष्टत: पत्रकारिता के लिए अनुभव की सच्चाई एवं सप्रेषणीयता या पाठक की ग्रहणशीलता के साथ सोद्देश्यता या जिन अन्य पूर्वापेक्षाओं की चर्चा यहॉ की गई है निश्चित ही किसी साहित्य के लिए भी यही बात खरी उतरती है। यह सोद्देश्यता ही साहित्य एवं पत्रकारिता का सेतु है।[65] साहित्य यदि भावाभिव्यक्ति अथवा किसी प्रकार का भावात्मक लेखन है तो पत्रकारिता में कई विषय पर भावात्मक लेखन के उदाहरण मिलते हैं। समाचार जैसे नितांत शुष्क विषयो को भी रचनाधर्मी कलम ने भावात्मक प्रस्तुति की है । खेल या अन्य छिट-पुट समाचार भी प्राय: मिल जाते हैं जो मुहावरेदार, प्रतीकों, बिम्बों आदि की भाषा में लिखे होते हैं। समाचारों के शीर्षक प्राय: इस प्रकार होते हैं कि पाठक की एक बारगी दृष्टि जाने पर उसे आकर्षित कर ले किन्तु इसका दुष्प्रभाव भी मिलता है। पत्रकारिता साहित्य की सभी विधाओं को रिपोर्ट या रिपोर्ताज के स्तर पर घसीटती है जिसमें रोचकता, सरसता, स्थूल प्रभाव पर आग्रह होता है; अनुभूति की गहनता, तीव्रता या सूक्ष्मता अथवा उसके मूल्यांकन पर नहीं। इसका एक कारण यह भी है कि पत्रकारी रचना को समय पर तैयार होना चाहिए, जबकि साहित्यिक सर्जन में प्राय: एक प्रकार की तल्लीनता, ग्गग्ग निरपेक्षता की आवश्यकता होती है। क्रमश: पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहने से साहित्यकार भी पत्रकारिता की इस पद्धति और उसके इस आदर्श को अनजाने ही अपना लेता है। यदि वह एक स्तर पर रोचक और उत्सुकतापूर्ण सुपाठ्य रचना करके अपने किसी पाठक समुदाय को संतुष्ट कर सकता है तो जीवन की गहराई में उतर कर उस गहराई के दबाव को सहन कर उसे उतनी ही अनन्य प्रामाणिकता और तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने की पीड़ा और श्रम झेलना क्यों आवश्यक है? अनुभूति को उसकी समस्त गहनता और तीव्रता में जी सकना और उसे अभिव्यक्त करने के लिए उतनी ही तल्लीनता और सूक्ष्मता से उलझना साहित्य कर्म

---

65 आस्था का आंगन, आलोक मेहता, पृष्ठ 17

की इस 'साधना' को पत्रकारिता ने लगभग अनावश्यक कर दिया है। आज भोडी से भोंड़ी और निरर्थक रचना के भी कहीं-न-कहीं छप जाने की पूरी सभावना है और साथ ही किसी-न-किसी बचकाने किशोर पाठक-समुदाय द्वारा उनकी प्रशंसा की भी। ऐसी स्थिति में साधारण यशः प्रार्थी लेखक अधिक परिश्रम क्यों करे? क्यों अपने अनुभव को और उसकी अभिव्यक्ति को निरंतर निर्ममता से जाँचे? यह संभावना एक प्रकार से प्रत्येक युग में ही रही होगी, पर पत्रकारिता के साथ उलझ जाने के कारण साहित्य कर्म के इस प्रकार मार्ग भ्रष्ट होने की आशंका आज जितनी तीव्र है उतनी शायद कभी न रही हो। आज तो साहित्य में जीवन के सहज ही उत्तेजित या प्रभावित करने वाले पक्षों को अथवा उनकी वैसी ही अभिव्यक्ति को सहज ही प्रश्रय और प्रोत्साहन मिलता है। लोकप्रियता सर्जनात्मक व्यक्तितत्व के लिए सहज ही काम्य वस्तु है, पर आज के युग में उसकी प्राप्ति इतनी सरल हो जाने के कारण वह साहित्यकार के लिए बडा भारी फदा बन गयी है। इसी से अनुभूति की सच्चाई और गहराई के बजाय उसकी तात्कालिक प्रभावशीलता का कही अधिक महत्व हो गया है।[66]

पत्रकारिता के इस दबाव का प्रभाव साहित्य की विभिन्न विधाओ के रूप पर भी कम नहीं है विशेषकर साप्ताहिक या मासिकों में। धारावाहिक रूप में छपने वाले उपन्यास, नाटक आदि में इसी कारण एक प्रकार से पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय लेखों की-सी अवसरोपयुक्तता की तात्कालिकता होती है। प्रायः उनमें समग्र रचना की अन्विति नहीं होती और उनके वस्तु-विन्यास में प्रत्येक किस्त को यथासंभव रोचक और स्वतः सम्पूर्ण बनाने की प्रवृत्ति रहती है। तात्कालिक लोकप्रियता का यह मोह बड़े से बड़े लेखक को भी प्रभावित करता है और उसे अनिवार्य रूप से लेखक के स्तर से पत्रकार के स्तर पर पहुँचा देता है।[67]

साहित्य को पत्रकारिता के स्तर तक सीमित रखने का बड़ा करुण प्रभाव तब होता है . ..जब कविता, कहानी, नाटक सभी समाचार पत्रों के संपादकीय लेखो की भांति लिखे जाने लगते है जिनमें क्षणिक उत्तेजना, भावुकता और सतही रोमांटिक आदर्शवादिता के अतिरिक्त जीवन की कोई विश्वसनीय गहन संवेदना नहीं होती। ऐसी रचनाएँ अपने बाह्य साहित्यिक रूप के बावजूद पत्रकारिता

---

66 'माध्यम', मई 1964 के पृष्ठ 12

67. 'माध्यम', मई 1964, पृष्ठ 13

के स्तर से ऊपर नहीं उठती और रचे जाने के साथ-साथ ही मर जाती हैं। निस्सन्देह ऐसी रचनाओं की क्षणजीविता उनकी अल्प उपयोगिता को अपने आप ही निर्धारित कर देती है। किन्तु चिंतनीय बात यह है कि साहित्य का ऐसा पत्रकारीय उपयोग समस्त साहित्य के मूल प्रयोजन और उद्देश्य के विषय में ऐसा भ्रमजाल उत्पन्न करता है कि साहित्य के मानदंड और उसके मूल्य को स्थापित करना कठिन हो जाता है।[68]

ऐसा इसलिए भी होता है कि समाचार पत्र के प्रत्येक वास्तविक अथवा संभाव्य पाठक को साहित्य का पाठक मान लिया जाता है। समस्त साक्षर को अपना पाठक मान लेने से स्वयं लेखक साहित्य रचना को प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से निम्नतम सवेदनशीलता के स्तर पर स्वीकार करने लगता है, जीवन के बाह्य तथा दृश्य पक्ष पर अत्यन्त तात्कालिक और सामयिक पक्ष पर बल देने लगता है। फलत: उसकी भाषा में एक विचित्र प्रकार की वर्णनात्मकता आ जाती है।

पत्रकार और लेखक की दृष्टि मे एक प्रकार का अंतर होता है। कोई रचनाकार या कलाकार यथार्थ के विभिन्न पक्षों से प्रतिक्रिया करते समय अपनी मूलदृष्टि सम्पृक्त रखता है। यथार्थ का बोध कराने के लिए दृष्टि का सम्पृक्त होना उसकी पहली आवश्यकता है क्योकि उसके बिना कोई सर्जनात्मक प्रक्रिया संभव नहीं हो सकती। दूसरी ओर यथार्थ के किसी भी स्तर का बोध कराने के लिए पत्रकार के तरीके अधिकतर विश्लेषणपरक होंगे। इसी के अनुरूप विभिन्न स्थितियों के प्रति उन दोनों की अपनी प्रतिक्रियाएं होंगी।[69]

मदर टेरेसा की मृत्यु पर पत्रकार इनके कार्यो का मूल्यांकन कर सकता है। इस घटना के आलोक में पूर्व व पश्चिम के सम्बन्धों को देख सकता है अथवा भारत मे मिशन के कार्यों के साथ धर्मान्तरण की समस्या पर विचार कर सकता है। पत्रकार का विचार विश्लेषणात्मक होगा। परन्तु साहित्यकार के लिए इस घटना की प्रतिक्रिया भिन्न होगी। रचनाकार के लिए मदर टेरेसा की मृत्यु एक सम्पूर्ण अनुभूति होगी और वैसे ही उसकी अभिव्यक्ति सर्जनात्मक और सम्पृक्त। रचना की सम्पृक्तता ही उसे स्वायत्त बनाती है। और किसी भी कलाकृति की उत्कृष्टता को जाँचने का आधार उसकी स्वायत्तता है। पत्रकारिता का स्तर उसमें निहित विश्लेषण से आँका जाता है जो मूलत: तथ्यों का होता

---

68 'माध्यम', मई 1964, पृष्ठ 13

69. 'माध्यम', मई 1969, पृष्ठ 20

है, और कोई भी तथ्यपरक लेखन स्वायत्त नहीं हो सकता है क्योंकि उसे बाह्य घटनाओं के आधार पर जाँचे जाने की अपेक्षा होगी।

इसे एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना उपयुक्त है। मान लीजिए एक सामान्य व्यक्ति की कोई चौदह वर्ष की लड़की है जो रोज समयानुसार स्कूल जाती है और लौटकर आती है। एक दिन घर नहीं लौटती। घरवालों की परेशानी का ठिकाना नहीं रहता। सब जगह तलाश की जाती है और अन्त में हारकर पुलिस में रिपोर्ट दर्ज करवा दी जाती है। पत्रकार इस घटना की खबर अपने पत्र के लिए इस तरह से बनाएगा। वह शीर्षक रखेगा 'छात्रा का अपहरण' और आगे लडकी के स्कूल जाने और घर न लौटने का हवाला देकर पुलिस मे लिखाई गई रिपोर्ट का जिक्र करेगा और साथ ही लड़की के अपहरण की सम्भावना की तरफ भी इशारा कर जाएगा। अखबार व्यवस्था विरोधी हुआ तो पुलिस के ढीलेपन पर छींटाकशी भी करेगा और पक्षकार हुआ तो उसकी मुस्तैदी से तारीफ में दो शब्द लिख देगा।'

एक साहित्यकार इस घटना पर जब किसी रचना का निर्माण करेगा तो वह पहले लड़की का उस घर में स्थान बताएगा। फिर लड़की के प्रति पाठकों के मन में लगाव पैदा करेगा। उसके बाद लड़की के स्कूल से घर न लौटने के बाद पैदा होने वाली स्थिति को बड़े ही रचनात्मक और संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत करेगा। साथ ही वह अपनी कल्पना शक्ति से लड़की के साथ आज के इस भयंकर माहौल में जो कुछ होने या घटने की संभावना हो सकती है उसे किसी-न-किसी कलात्मक तरीके से पाठकों के सामने रखेगा। अन्त मे वह लडकी की लाश भी दिखा सकता है ताकि आज की कमजोर व्यवस्था पर करारी चोट कर सके या आदर्शवादी बन कर उसे घर भी लिवा ला सकता है, उसकी मरजी है।[70] इस प्रकार यह एक ही घटना पत्रकार एवं साहित्यकार दोनों को भिन्न तरीके से प्रेरित करेगी।

आधुनिक युग के तेजी से बदलते हुए संसार और यथार्थ बोध के नए विकसित होने वाले परिप्रेक्ष्यों के लिए अधिक भावप्रवण व्यक्तित्व का होना जितना पत्रकार के लिए आवश्यक हैं उतना ही साहित्यकार के लिए भी, यह मानना असंगत न होगा। यहाँ भी रचनाकार का व्यक्तित्व पत्रकारिता की

---

70. जनसंचार : राधेश्याम शर्मा के लेख 'पत्रकारिता और साहित्य', राकेश वत्स के लेख से, पृष्ठ 209

पद्धतियों से लाभ उठा सकता है। क्योकि यथार्थ के ग्रहण और संवेदन की अपेक्षा उसे भी उतनी ही है, भले ही प्रतिक्रिया का ढंग उसका अपना हो।[71]

पत्रकारिता का अधिकांश भी समय के साथ आउटडेटेड हो जाता है तथापि पत्रकारिता के कुछ महत्वपूर्ण साहित्य लम्बे जीवन के भी होते हैं। पत्रकारिता का एक्सपोजर अधिक होने के कारण अधिकांश रचनाकार पत्रकारिता से जुड़ते है। किसी साहित्य का जन सामान्य से परिचय कराने में पत्रकारिता मदद करता है। पुस्तक समीक्षा जैसे स्तंभ पाठकों को पुस्तक पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। इधर पत्रकारिता ने भी अपने संरक्षण मूल्य को बढाने तथा स्थायी प्रभाव और संग्रहणीय स्वरूप धारण करने के दबाव से गंभीर साहित्य का सहारा अपने विविध संस्करणो/विशेषांकों के माध्यम से लिया है। इन संस्करणो मे साहित्य छप रहा है। इस आधार पर पत्रकारिता और साहित्य के संबन्ध का रूपायन करना अत्यंत स्थूल है। पत्रकारिता और साहित्य दोनो एक नही है, दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों के सम्बन्धों में आने वाली सबसे बडी बाधा व्यावसायिकता और उससे भी नीचे धंधाकरण है। स्वतंत्रता पूर्व पत्रकारिता ने जहाँ पर अपने प्रतिबद्ध रचनाधर्मिता से भाषा और साहित्य को सवर्द्धित और संरक्षित किया, वहीं आज पत्रकारिता पर बाजार का प्रत्यक्ष प्रभाव है। उसने बाजार की प्रतिद्वंद्विता में टिकने के लिए कुछ अन्य हथकंडों को अपनाना शुरू कर दिया है, यथा, पत्रिका के मुख पृष्ठों पर यौवनाओं की अर्द्धनग्न तस्वीरों, छवियों की उपस्थिति से पाठक को आकर्षित करना, भाषा की सहजता के लिए मिश्रित एवं दूषित भाषा का प्रयोग, अनुरंजन के लिए सतही विषयों एवं सन्दर्भों का प्रयोग, मनुष्य की स्वाभाविक वासनात्मक ऐषणओ को भुनाने का प्रयत्न आदि। इससे पत्रकारिता में साहित्य हाशिए पर है। पत्रकारिता को इस स्थिति से उबरना होगा। लोकतंत्र में उसकी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी है। पत्र-पत्रिकाओं का दायित्व अब मनोरंजन-भर नहीं रह गया है। मनोरंजन का दायित्व अब इलेक्ट्रानिक मीडिया की ओर खिसक गया है। इलेक्ट्रानिक मीडिया को भी ठीक रास्ते पर लाने के लिए प्रिन्ट मीडिया को इलेक्ट्रानिक मीडिया के आलोचना की भाषा को गढ़ना होगा जिससे वह भी सँवर सके। लिखित साहित्य अमर है उसे इलेक्ट्रानिक मीडिया से घबराने की जरूरत नहीं है। प्रिंट मीडिया की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह कहाँ तक अपने को समाज में हिंसा, सेक्स और भ्रष्टाचार के साधारणीकरण करने से मुक्त रख सकता है और दायित्वपूर्ण सम्पादकीय दृष्टि का विकास कर सकता है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना बड़ी भूल होगी कि साहित्य श्रेष्ठ और पत्रकारिता कोई घटिया कार्य है। प्रश्न एक दूसरे की श्रेष्ठता का इतना नहीं जितना दोनों के मूलभूत अंतर और उनकी विशिष्टता

---

71 'पत्रकारिता और साहित्य', राम स्वरूप चतुर्वेदी, माध्यम, मई 1964 लेख से, पृष्ट 22

को ठीक-ठीक समझने का है। क्योकि लिखित शब्द के इन दोनो रूपो के उद्देश्य ही अलग-अलग नहीं, उनकी प्राप्ति के साधन, माध्यम और उपाय भी मूलत: भिन्न-भिन्न हैं, और वे भिन्न-भिन्न स्तरों पर मानव मन के विकास और संस्कार में सहायक होते हैं। यह भी सच है कि बहुत बाद दोनो के रूप में अंतर इतना कम बचता है कि उन्हें अलग-अलग पहचानना कठिन हो जाए किन्तु फिर भी दोनों प्रकार के लेखन में उद्देश्य, प्रयोजन, अभिव्यक्ति और प्रभाव की दृष्टि से जो अंतर है वह आत्यंतिक है और इसे किसी भी प्रकार से ओझल नहीं किया जा सकता है। आज के सजग साहित्य चिंतक का यह महत्वपूर्ण दायित्व है कि वह इस अंतर को धुँधला न होने दें और साहित्य कर्म की विशिष्टता और जीवन के संस्कार में उसके विशेष योग को यंत्रयुग की सामूहिकता द्वारा अपदस्थ हो जाने से रोके।[72]

72 साहित्य और पत्रकारिता, नेमिचन्द्र जैन, माध्यम मई 1964, पृष्ठ 15

अध्याय - चार

इलेक्ट्रानिक मीडिया एवं साहित्य

अध्याय - चार

इलेक्ट्रानिक मीडिया एवं साहित्य

बीसवीं सदी को अपने विगत सदी से विद्युत चुम्बकीय और रेडियो तरंग जैसी महत्वपूर्ण प्राविधिक उपलब्धियाँ मिली, जिसने मनुष्य के समक्ष संचार रूपी नवीन शक्ति प्रदान की। रेडियो, टेलीविजन, एवं इन्टरनेट आदि इलेक्ट्रानिक माध्यमों की सशक्त उपस्थिति से प्रविधि एवं संचार एक दूसरे के अविभाज्य अंग बन गए और ये मनुष्य की क्षमताओं का दिन-प्रतिदिन विस्तार करते जा रहे हैं। इसने दूरवर्ती, बहुगुणित एवं तीव्र प्रसारण एवं संचरण को सुगम बनाया है। समसामयिक समाज में संचार ने एक नयी महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका ग्रहण कर ली है। अत: संचार के क्षेत्र में प्राविधिक उपलब्धियों की उपेक्षा असंभव है। दूसरी ओर, मुद्रित शब्द को सर्वप्रथम चुनौती इन इलेक्ट्रिानिक माध्यमों से ही मिली। आज विचारों एवं भावों के संप्रेषण में पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य यांत्रिक माध्यम आ गए हैं तथा शब्द को सहृदय तक पहुँचाने मे माइक्रोफोन, कैमरा एवं स्क्रीन अपरिहार्य हो गए हैं। अत: पारंपरिक 'सहृदय' शब्द के अंतर्गत दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य के भावकों के अतिरिक्त उन बहुजन कीभी गणना अपेक्षित है जो आनुभविक सत्य का साक्षात्कार इन यांत्रिक माध्यमों से कर रहे हैं। फलत: माध्यम एवं साहित्य के सापेक्षिक सन्दर्भ का जटिल प्रश्न स्वयमेव खड़ा हो जाता है जिसका विवेचन अभिप्रेत है। इलेक्ट्रानिक माध्यम एवं साहित्य के अन्तर्संबंध की चर्चा के लिए इन माध्यमों की सीमा, इसके परिप्रेक्ष्य में साहित्य का विवेचन तथा इन माध्यमों से साहित्य एवं साहित्यकार के सरोकार का सर्वेक्षण करते हुए संभावनाओं के द्वार को तलाशना होगा।

रेडियो : एक माध्यम के रूप में

रेडियो ने मौखिक शब्द के प्रसारण को संभव बनाया। रेडियो ध्वनि तरंगों का माध्यम है, इसे दृश्यरहित, नेत्ररहित अथवा अन्धा माध्यम भी कहा जाता है क्योंकि इसमें संचारक एवं श्रोता दोनों ही एक दूसरे को नहीं देख सकते हैं। यहाँ अन्धापन दोतरफा होता है। जबकि फिल्म अथवा

टेलीविजन में एकतरफा। इसमें प्रतिक्रिया जानना सहज नही है। रेडियो मस्तिष्क की आँख को न कि शारीरिक नेत्र को छूता है। यह एकल इन्द्रिय माध्यम है, क्योंकि यह कानों को ही छूता है और इसलिए इसे नितांत श्रव्य माध्यम कहा जाता है।[1] श्रव्य माध्यम होने के कारण यह अन्तरंग माध्यम है, जिसे रसोईघर, बिस्तर, पढ़ते एवं अन्य काम करते समय भी साथ रख सकते हैं। यह अपने लोकधर्मी कार्यक्रमों के कारण पारिवारिक माध्मय भी है। पत्र-पत्रिकाओं की तरह आकाशवाणी का कोई खास वर्ग नहीं है, बल्कि इसके विशेष कार्यक्रमों के श्रोता अवश्य खास वर्गों के होते हैं। 'बी० बी० सी०', 'आकाशवाणी' एवं 'विविध भारती' के विविध चैनलो के अपने-अपने श्रोता होते हैं। रेडियों का सम्बन्ध मूलत: शब्द एवं ध्वनि से है और साहित्य स्वयं शब्द की विधा है अत: इनके संबन्धों के रूपायन की असीम संभावना है।

मुद्रित भाषा से पृथक माइक्रोफोन की भाषा का व्याकरण

यद्यपि साहित्य मौखिक एवं लिखित दोनो स्वरूपो में होता है फिर भी साहित्य का प्राय: मुद्रित या लिपिबद्ध स्वरूप ही प्रचलन में अधिक है। लिपिबद्ध साहित्य की रचना का अपना एक व्याकरण होता है जबकि रेडियों के माइक्रोफोन की अपनी सीमा एवं सामर्थ्य है। माइक्रोफोन बोलने वाले एवं श्रोता के बीच की कड़ी हे जो सवेदनशील मध्यस्थ की भूमिका का निर्वाह करता है। अस्तु बोले हुए शब्दों में स्वर-विन्यास, आवाज़ का उतार-चढाव और बलाघात का सही अन्दाज होना परम् आवश्यक है। छपे हुए शब्द मे हमे बहुत से विरामचिन्ह, कोष्ठकों या शब्दों को रेखांकित करने के सुलभ तरीके उपलब्ध हैं जिनसे बात को सम्प्रेपित करने में सुविधा होती है। बोले हुए शब्दों में हमें यह सारा काम केवल अपने स्वर विन्यास और आवाज़ के उतार-चढ़ाव से ही उत्पन्न करने होते हैं। शब्द और वाक्यों को परस्पर बाँधने का काम भी हम आवाज के सहारे की करते हैं। विराम, अर्द्धविराम, प्रश्नचिन्ह, आश्चर्य सूचक चिह्न, कोष्ठक या उद्धरण, दिए गए अंशों को मूल कथन से भिन्न अभिव्यक्ति देने का काम सक्षम वार्ताकार की आवाज़ ही करती है।

---

1. जनसंचार - राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 108

यह सारा शिल्प यदि किसी दानिश और सक्षम वार्ताकार के हाथ मे आ गया तो वह चाहे गूढ वेदान्त दर्शन न भी छॉट रहा हो तो भी अपनी सहज बात को श्रोता के मन पर अमिट छाप छोड़ जाएगा। सिर्फ शब्दों को लगातार पढते रहना ही नहीं, कहीं - कहीं अत्यंत अर्थवान 'पॉज' (मौन) भी बहुत कुछ सम्प्रेपित कर देता है।[2] बोले हुए शब्द की गति क्या हो इसकी समझ अत्यंत आवश्यक है। बोलने वाले को यह एहसास नहीं होता कि जहाँ छपे हुए शब्द को दुबारा पढ़ने की सुविधा रहती है— वहाँ बोले हुए शब्द की डोर एक बार टूट जाने पर दुबारा नहीं पकड़ी जा सकती। इसलिए कही हुई बात का क्रम यदि एक बार कही से टूट गया तो श्रोता के लिए आगे कुछ भी सुनना बेमानी होता है। इसलिए कहा जाता है कि रेडियों पर बोलते हुए एक ही बात को कई तरह से घुमाकर कई बार कहना चाहिए। इस दृष्टि से छापे मे जिस पुनरावृति को अवगुण माना गया है, वह रेडियों में सद्गुण के रूप में समझा गया है।[3] यह रेडियो का सामर्थ्य है। छपी हुई किताब में पाठक के लिए छपाई के अक्षर एवं चित्रादि ऑख और मन के साधन हैं, लेकिन रेडियो में वैसा कुछ नहीं है। शब्द और मात्र शब्द ही श्रोताओ के लिए ध्वनि रूप में उपलब्ध होते हैं। ऐसी हालत में रेडियो के लिए लिखते समय हमेशा ध्यान मे रखना होता है कि शब्द ऐसा हो, जो श्रोताओं के पकड़ सके।[4] बोधगम्य शब्द ही श्रोता तक पहुँचते हैं। अन्यथा वे शून्य में विलीन हो जाते हैं। रोडियो की भापा के संदर्भ मे एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि रेडियो पर बोला गया शब्द ठीक वही अर्थ नहीं देता जो उसे पढ़ते वक्त लिया जाता है। माध्यम की प्रकृति से भाषा भी बदलती है।[5]

बोले हुए शब्द, संगीत एवं ध्वनि प्रभाव, ये सभी वायु तरंगों द्वारा श्रोता तक ले जायी गयी आवाज़ हैं। श्रोता द्वारा इनके ग्रहण के लिए यह आवश्यक है कि श्रोता के कानों के लिए ये

---

2. शब्द की साख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 107
3. शब्द की साख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 107
4 भारतीय प्रसारण : विविध आयाम, डॉ० मधुकर गगाधर पृष्ठ 61
5 दूरदर्शन : विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 105।

प्रीतिकर एवं सम्प्रेणशील हों। श्रोता की कल्पनाशक्ति को उत्तेजित करने के लिए इनका कलात्मक समन्वय एव मिश्रण होना चाहिए अन्यथा प्रसारक का उद्देश्य बेकार चला जाएगा।[6] रेडियों प्रसारण एक किस्म की संगीत प्रधान कविता है। जिस प्रकार संगीत प्रधान कविता में शब्दो के महत्व के साथ ध्वनि का महत्व रहता है और अनुगूँज तक का महत्व रहता है। उसी तरह से रेडियों में भी शब्दों के साथ उनकी ध्वनि का बड़ा महत्व होता है, कई बार ऐसा होता है कि दो साहित्यिक और अर्थगर्भित, शब्द साथ-साथ लिखे जाते हैं और पढने मे अच्छे लगते हैं, किन्तु जब उन्हें बोला जाता है, तो उच्चारण करने में सुविधा नहीं होती है। जैसे एक उदाहरण लीजिए- शीला खुशी-खुशी ससुराल शांति के साथ गयी। यहाँ 'श' और उसके बाद 'म' फिर 'श' की स्थिति है। वाचन के समय यह कठिनाई पैदा करेगा और हो सकता है वाचक खुशी की सतर्कता से आकर 'ससुराल' को 'शशुराल' बोल दे। यह तो शब्दगत कठिनाई हुई। कई बार भावो की अभिव्यक्ति में भी ऐसी ही दिक्कतें आती हैं।[7] अतः माइक्रोफोन के समक्ष हमेशा सजगता की माँग रहती है। प्रसिद्ध लेखक जार्ज बर्नार्ड शॉ ने माइक्रोफोन को प्रसारणकर्ता का सबसे बड़ा मित्र एवं उससे भी प्रबल शत्रु कहा था।[8] माइक्रोफोन का सही इस्तेमाल, उससे सही दूरी, आत्मीयता बना करके भी उससे एक कलात्मक तटस्थता बनाए रखना तथा फेडरो का कुशल प्रयोग[9] आवश्यक है। किसी प्रसारक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह भाषा के अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनो शब्द शक्तियों से भली-भाँति परिचित हो और भाषा को फूहड और बाज़ारू बनाने वाले शब्दों से बचा सके। माइक्रोफोन पर खड़े होने के पूर्व प्रसारक को आलेख तैयार कर लेना होता है। यह आलेख वस्तुतः प्रसारण योग्य शब्दों का चनय, क्रम एवं समायोजन है। जो माइक्रोफोन से प्रसारण की शर्तों पर लिखा होता है। यह साहित्य के अन्य लेखन से भिन्न होता है। माइक्रोफोन की इस सीमा एवं

---

6 Elements in mass media, Published By IGNOU, Page 22

7 भारतीय प्रसारण विविध आयाम - डॉ० मधुकर गगाधर, पृष्ठ. 62

8 Microphone is a devilish precision instrument. (G B. Shaw, 1925)

9. शब्द की शाख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 99

लेखन और प्रसारण के अतर के कारण यह आवश्यक नही है कि एक अच्छा लेखक स्वयं एक अच्छा प्रसारक हो। इसके अतिरिक्त एक प्रसारक के लिए जरुरी नही कि वह ललित कलाओं में निष्णात सिद्ध हो, किन्तु उसकी प्राथमिक जानकारी इतनी व्यापक तो हो कि वह संगीत के विभिन्न प्रकारों से, नाटक के तमाम रूपो से, सामाजिक, राजनैतिक पृष्ठभूमियों से और साहित्य के मूल ढाँचे और उसकी आधुनिक गतिविधियो से किसी-न-किसी स्तर पर परिचित हो।[10] प्रसारण मे पाण्डित्य प्रदर्शन उपयुक्त नहीं होता जहाँ तक वार्ता अथवा सामान्य कार्यक्रमों की बात है- भाषा और शब्द के पाण्डित्य रूप को कभी वार्ता मे शामिल नहीं करना चाहिए। रेडियो के लिए वार्ता लिखना, अनुसंधान करना या लेख लिखना नहीं है। शोध और लेख पाठकों के लिए होते हैं। रेडियो वार्ता का भागता हुआ तूफान है, जो एक दिशा मे निरतर गतिमान रहता है। प्रवाहमान शब्दो से जितना कुछ आप श्रोताओं से बातचीत कर सके वही वार्ता की विशिष्टता है। इसमें एक भी शब्द और भाव निरर्थक नहीं जाना चाहिए।[11] माइक्रोफोन के व्याकरण की इन मर्यादाओं को ध्यान में रखकर ही प्रभावी प्रसारण किया जा सकता है।

अस्तु साहित्य के परिष्कृत, परिमार्जित एवं विलष्ट रूप को रेडियो पर उस रूप में नहीं उतारा जा सकता जिस रूप में मुद्रित साहित्य से विचार एवं भावो की अभिव्यक्ति संभव है। रेडियो की इन सीमाओं का ध्यान रखते हुए बोल-चाल की भाषा का परिमार्जित एव प्राञ्जल रूप उपयुक्त एवं सहज संप्रेषणीय होता है।

रेडियो में रचनात्मक हस्तक्षेप

किसी माध्यम का सांस्कृतिक व्यक्तित्व तव खड़ा होता है जब उसमें सृजनधर्मी व्यक्तियों का सहयोग हो एवं वह माध्यम रचनाधर्मिता से सरोकार रखे। इलेक्ट्रानिक मीडिया जहाँ

---

10. वही, पृष्ठ 96

11 रेडियो वार्ता की कला, डा० रमेशचन्द्र त्रिपाठी, संचार माध्यम, जुलाई सितम्बर, भारतीय जनसचार सेस्थान नई दिल्ली की त्रैमासिकी, पृष्ठ 17

सांस्कृतिक प्रदूषण और फूहड़ता के लिए अभिशप्त है वहाँ रेडियो उसका एक अंग होने के बावजूद इस अभिशाप से कुछ हदतक मुक्त है। संस्कृतकर्मी एव साहित्यकारों द्वारा रेडियो को प्रत्यक्ष और परोक्ष योगदान मिलना इसका मूल कारण है। स्वर एव शब्द जिनके लिए ब्रह्म है ऐसे स्वर साधक एवं शब्द साधकों ने अपनी रचनाधर्मी दृष्टि से रेडियो को समृद्ध और सम्पन्न किया। इसको स्वराज्य के बाद बड़े-बड़े साहित्यकारों और रचनाकारो की सेवाएँ सलाहकार, प्रोडयूसर, वार्ताकार, संवाददाता के नाते उपलब्ध होती आ रही है जैसे- सुमित्रानन्द पंत, भगवतीचरण वर्मा, डॉ० नगेन्द्र, अज्ञेय, रामचन्द्र, टन्डन, नरेन्द्र शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, गिरिजा कुमार माथुर, हरिकृष्ण प्रेमी, विष्णु प्रभाकर, चिरंजीत, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भवानी प्रसाद मिश्र, जगदीश चन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनाराण मिश्र, विद्यानिवास मिश्र, केशवचन्द्र वर्मा, गोपीकृष्ण 'गोपेश', अमृतलाल नागर, 'रेणु', रजनी पत्रिकर, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, ओंकार नाथ श्रीवास्तव, राजनारायण बिसारिया, हेमलता आजनेयुलू, आरिगपुडि आदि।[12]

इन माध्यमों की महत्ता को स्वतत्रतापूर्व के रचनाकारों ने भी समझा था। इसलिए उस समय के अधिकांश रचनाकार भी किसी-न-किसी रूप में आकाशवाणी से जुड़े रहे। प्रेमचन्द्र अपनी दो कहानियों को आकाशवाणी से सुनाने दिल्ली गए थे। उस समय इस पाठ के लिए उन्हे अस्सी रूपये मिले थे। स्वाभाविक ही है कि उस समय उन्हे आकाशवाणी के प्रति मोह नहीं होता तो बनारस से चलकर इतनी दूर आकाशवाणी दिल्ली क्यों आते?[13] चाहे महादेवी वर्मा हों या रामधारी सिंह 'दिनकर', देश के सभी मूर्धन्य साहित्यकार आकाशवाणी से आजीवन जुड़े रहे। 'नयी कविता' शब्द का प्रचलन सवसे पहले रेडियो की एक वार्ता के माध्यम से हुआ था।[14] अग्र पंक्ति के आधुनिक हिन्दी कवि एवं प्रगति-प्रयोग की नयी कविता आन्दोलन के प्रवर्तकों में से एक जगदीशचन्द्र माथुर 1943 से 1977 तक आकाशवाणी के वरिष्ठ कार्याधिकारी रहे। रेडियो को

---

12. जनसंचार : माध्यम और भाषा- डॉ प्रभाकर माचवे के लेख से (जनसचार सपादित राधेश्याम शर्मा) पृष्ठ 133

13 साक्षात्कार , डॉ० कमलकिशोर गोयनका, दिल्ली वि वि । दृष्टव्य, सचार माध्यम बनाम साहित्य:योगेन्द्र प्रताप सिह

14. साक्षात्कार, श्री लक्ष्मी शकर बाजपेयी, आकाशवाणी दिल्ली। दृष्टव्य, संचार माध्यम बनाम साहित्य:योगेन्द्र प्रताप सिंह

आपका मुख्य योगदान हिन्दी कार्यक्रमों का प्रारंभ, प्रयोगशील नाटक, गीति-नाट्य, विज्ञान तथा ब्रह्माण्ड विषयक कल्पना नाटक तथा विशेष रूप से लिखे गए 'श्याम आए नयनों मे' तथा 'हम होंगे कामयाब एक दिन' जैसे लोकप्रियगीत हैं। 'हम होंगे कामयाब एक दिन' गीत एक राष्ट्रीय गान बन चुका है। बड़ी सख्या में आपके नाटक तथा वृत्तलेख आकाशवाणी के राष्ट्रीय कार्यक्रम में प्रसारित हो चुके हैं। तुलसीदास तथा सूरदा के शताब्दि समारोहो पर आपके वृत्त नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार श्री माथुर ने काव्य तथा साहित्य के लिए विशिष्ट योगदान तो किया ही है, साथ ही रेडियो तथा दूरदर्शन के क्षेत्र मे भी बडा योगदान किया है।[15] पडित कांतानाथ पाण्डेय ने रेडियो के लिए नए प्रकार के हास्य-व्यंग्य लिखना शुरू किया।[16] प्रख्यात नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर ने 1955 से 1962 तक आकाशवाणी- भारत सरकार के महासंचालक के रूप में अपनी सेवाएँ दी।[17] पहले सूचना प्रसारण मंत्री आचरण धर्मी कर्मठ नेता सरदार बल्लभ भाई पटेल ने प्रसारण क्षमता का सही मूल्यांकन करके देश स्नायु केन्द्रों मे रेडियो स्टेशनो की स्थापना की अपनी सांस्कृतिक विरासत से जोड़ते हुए भारतीय मानस को अस्मिता देने का प्रसारण मंत्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने जिस तरह लगातार काम किया, वह भारतीय प्रसारण सेवा का स्वर्ण युग आँका जाएगा। डॉ० केसकर को प्रसारण की कलाधर्मी नीति कार्यान्वित करने के लिए भी बालकृष्ण राव और फिर बाद में भी जगदीश चन्द्र माथुर की प्रशासनिक सेवा और रचनाधर्मी दृष्टि का सहयोग मिला। केसकर-माथुर की जोडी ने रेडियो प्रोग्रामो का एक ऐसा अभूतपूर्व वातावरण तैयार किया, जिसमें एकाध वर्ष के भीतर ही हर भाषा के मूर्धन्य साहित्यकार, कवि, संगीतज्ञ, नाटककार, अच्छे गायक और अभिनेता सभी किसी-न-किसी रूप मे रेडियो से जुड़ गए।

शिखरस्थ रचनाकारों ने देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक और सांगीतिक परम्पराओं को आजाद हिन्दुस्तान के नवोन्मेष से जोड़ने की कोशिश की। तमाम ऐसे विशिष्ट व्यक्ति रेडियो केन्द्रों में सलाहकारों या कार्यक्रमों के 'प्रोडयूसर' होकर आ गए थे। प्रोग्राम के चयन, निर्देशन और

---

15. राष्ट्रवाणी, सम्पादक - रमेश नारायण तिवारी, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, पृष्ठ 3।
16. हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो, सम्पादित धीरेन्द्र वर्मा , पृष्ठ 79
17. हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो, सम्पादित धीरेन्द्र वर्मा , पृष्ठ 198।

संयोजन में उनकी आवाज ही सर्वोपरि थी। नौकरशाही और लालफीताशाही को प्रोग्रामों की वरीयता के समक्ष झुकना पडा था। यह जबरन झुकना नौकरशाही के गले के नीचे कभी नहीं उतरा। पर उन्हें पंडित सुमित्रानन्दन पन्त, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, इलाचन्द्र जोशी, उदयशकर भट्ट, फणीश्वर नाथ रेणु, आर सी प्रसाद सिह, हंस कुमार तिवारी, हरिवंश राय बच्चन, अज्ञेय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, लक्ष्मी नारायण लाल, जैसे तमाम लोगों के अनेक हिन्दी केन्द्रों से जुड़ जाने से सहसा सारी रचनात्मक प्रतिभा को नकारना कठिनतर होता गया। यही हाल मराठी, गुजराती, बगला, तमिल, मलयालम, तेलगू, कन्नड़ आदि भाषाओं के रेडियो केन्द्रों में भी हुआ।[18] रेडियो मे अखिल भारतीय स्तर के साहित्य समारोह भी आयोजित हुए। सर्वभाषा कवि सम्मेलनों की परम्परा चली। देश की सम्पूर्ण रचनात्मक प्रतिभा को रेडियो के द्वारा भारतीय पटल पर पहली बार इतने महत्वपूर्ण ढंग से उतारा गया कि भारतीय साहित्य, संगीत, नाटक, और तत्सबन्धी कला दृष्टि से आम श्रोता का साक्षात्कार हुआ[19] और श्रेष्ठ रचनाएं उसके मनोरंजन का आधार बनीं।

शुरू-शुरू में जब देश में रेडियो तंत्र से प्रसारण प्रारम्भ हुआ तब सभी केन्द्रों पर समझ-बूझ वाले स्टेशन डाइरेक्टर नियुक्त हुए वे रेडियो की विधा के अच्छे जानकार थे और उनकी क्षमताएँ भी तदनुरूप थीं। उनके पास अपने केन्द्रों को चलाने के व्यापक अधिकार थे। अपनी जाँच-परख से वे अपने केन्द्रों में काम करने वाले प्रोग्राम के अधिकारियों को स्वयं ही नौकरी दे सकते थे। उन पर कोई प्रतिबन्ध न था। वे खासे निरंकुश होते हुए भी कलाकारों के प्रति विशिष्ट तमीज़दारी से पेश आते थे और जो शीर्षस्थ व्यक्ति केन्द्र पर आते, उनसे मिलना - जुलना और उनका सम्मान करना उनका विशेष दायित्व था। सामान्यत: उनके कमरे में आना जाना प्रतिबन्धित था, उनके द्वारा किसी को विशेष रूपसे बुलाये जाने पर पूरे केन्द्र मे सनसनी मच जाती थी। इनमें

---

18. शब्द की साख, केशव चन्द्र वर्मा, पृष्ठ 25
19. शब्द की साख, केशव चन्द्र वर्मा, पृष्ठ 26

कई स्टेशन डाइरेक्टर पत्रकारिता और साहित्य जगत मे अपनी पतिभा के बल पर आये थे। कई उल्लेखनीय प्रतिभाएँ इस पद पर रहीं है। अपने व्यापक गुणो, प्रभाव और सपाट अधिकारों के कारण किसी भी रेडियो स्टेशन के स्वरूप का केन्द्र विन्दु उसका केन्द्र निदेशक ही होता था। जो उस समय (और इस समय भी) स्टेशन डाइरेक्टर के नाम से ही जाना जाता था। वे लोग जो शीर्ष पर थे अधिकांशत: उर्दू भाषा जानने वाले थे। इसी कारण अनेक केन्द्रो पर - जिनकी संख्या बहुत सीमित थी- उर्दू बहुल प्रोग्राम ही होते थे। हिन्दी भाषा से लोग उदासीन थे। उर्दू भाषा के मुकाबले उसे अधिक 'ग्राम्य गिरा' समझा जाता था। हिन्दी वालो ने रेडियो के इस तरह की तमाम नीतियों को लेकर बहुत दिनों तक रेडियो केन्द्रो का और उनसे आए हुए प्रोग्रामो का बहिष्कार कर रखा था। प्रसारण मंत्री केसकर के काल में जब श्री वालकृष्ण राव (आई.सी एस) प्रसारण विभाग के महानिदेशक और सचिव हुए तो उन्होने सर्वप्रथम हिन्दी के बहिष्कार आन्दोलन को समाप्त कराया। हिन्दी कवि प० सुमित्रानन्दन पन्त रेडियो मे कार्यक्रम के सलाहकार बने। फिर वे चीफ प्रोड्यूसर भी हुए। डॉ० केसरकर के ही मत्रित्व काल मे हिन्दी के नाटककार श्री जगदीश चन्द्र माथुर (आई सी. एस) महानिदेशक के पद पर आये। केसकर और माथुर की जोड़ी ने रेडियो की उर्दू बहुलता को समाप्त करके उसे राष्ट्रीय धारा मे जोडने की कोशिश की। हिन्दी के अनेक वरिष्ठ कवि और लेखक रेडियो स्टेशन के कार्यक्रमो से सीधे जुडे। वहुतों को कार्यक्रमों का प्रोड्यूसर बनाकर अलग-अलग केन्द्रो पर नियुक्त किया गया।[20] उस समय प्रशासक एवं साहित्यकारों का परामर्शदाता मण्डल था। ये लोग रचनाकारों, गुणीजन एवं संसाधनो के पास स्वयं जाकर जोड़ने का प्रयास करते थे और साथ ही उनकी नियमित एवं स्थायी सेवाएँ प्राप्त करने का स्वयं अग्रह भी करते थे। अमृतलाल नागर, फणीश्वर नाथ रेणु, लक्ष्मी नारायण लाल, भगवती चरण वर्मा जी, आदि सभी लोग इसी प्रकार आकाशवाणी से जुड़े । इस काम में नौकरशाही बाधक न थी। कुछ घटनाओं का उदाहरण देना प्रासंगिक होगा। इलाहाबाद में 1956 में एक दिन आकाशवाणी के प्रोड्यूसर

---

20 शब्द की साख, केशव चन्द्र वर्मा, पृष्ठ 133

साहित्यकार श्रीमती शाति मेहरोत्रा के पास पहुँचे एव उनसे आकाशवाणी से स्थायीरूप से जुडने का आग्रह किया। उन्हें यह सुनकर आश्चर्य हुआ क्योंकि न तो उन्होंने कोई आवेदन किया था और न ही किसी से उनकी इस विषय मे कोई बात हुई थी। फिर भी विशेष आग्रह के कारण वे आकाशवाणी से प्रोडयूसर के रूप मे जुडकर अपनी सेवाएँ दी।[21] इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पन्त के निमंत्रण पर, 1950 मे केशवचन्द्र वर्मा कॉलेज की अध्यापकी छोडकर आकाशवाणी, इलाहाबाद के केन्द्र पर नौकरी शुरू किए।[22]ऐसे ही अनेको रचनाकारो के साथ हुआ।

साहित्य एवं माध्यम के रूप मे आकाशवाणी दोनो सहधर्मी रहे है। साहित्यकारो ने प्रसार माध्यमों के रूप में आकाशवाणी को अपनाने मे तनिक भी सकोच नहीं किया। विगत में इलाहाबाद हिन्दी प्रसारण मेखला का अत्यंत प्रमुख केन्द्र था- लखनऊ और पटना तक उससे जुडा हुआ था। इलाहाबाद वैसे भी साहित्यिक गढ था। जो यहाँ नहीं रहते थे, वे भी बराबर आते रहते थे। पंत जी ने हिन्दी की अनेक प्रतिभाओं को रेडियो कार्यक्रमो मे समोलिया- एक निराला नहीं आये, जिन्हे मनाने का बड़े प्रयास हुआ। महादेवी वर्मा बहुत बाद मे रेडियो पर कार्यक्रम देने को तैयार हुई। उन दिनो हिन्दी साहित्य के उत्कृष्टतम् कार्यक्रम यहाँ से प्रसारित हुए।[23] अनेक उद्भट विद्वान केन्द्र पर प्राय: आते। हर दिन देश की किसी महान विभूति के दर्शन आकाशवाणी केन्द्र पर होते ही थे। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, फिराक, प० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० गोरख प्रसाद आदि रेडियो पर आते और नई चर्चाएँ करते। नयी कविता के प्रारंभिक दिन थे। इस आन्दोलन को भी रेडियो केन्द्र ने आगे किया। जो कुछ साहित्य में, संगीत मे, कला में, इतिहास में, राजनीति में जीवंत था, जो नये आन्दोलनों के रूप में आकार ले रहा था, वह सब आकाशवाणी के केन्द्रों से

---

21 श्रीमती शाति मेहरोत्रा का डॉ0 जीवन लाल गुप्त द्वारा लिया गया साक्षात्कार, आकाशवाणी से प्रसारित, दिनाक 29-3-99, साय 7 30 बजे

22 शब्द की साख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 26

23 शब्द की साख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 26

निरंतर प्रतिध्वनित और प्रतिबिंबित हो रहा था।[24]

इस प्रकार रचनाकार एवं माइक्रोफोन का सरोकार बना रहा किन्तु कालान्तर में केसकर के चुनाव में हार की वजह से जाते ही परिस्थितियाँ बदलीं। उनके बाद जो भी प्रसारण मंत्री हुए, उनके पास संस्कृति और कला संबन्धी कोई परिपक्व दृष्टि थी ही नहीं जगदीश चन्द्र माथुर भी डाइरेक्टर जनरल पद से हटे। उनकी जगह पर फिर कभी कोई रचनाधर्मी दृष्टिवाला महानिदेशक नहीं आया। रचनाकारों को दोयम दर्जे की जगह पर बिठाने की कोशिशें हुई। नौकरशाही का बोल-बाला हुआ। रेडियो के प्रोग्रामो के स्तर से सहसा उदासीनता शुरू हो गयी। तमाम लेखकों और कलाकारों ने रेडियो छोड़ दिया। रेडियो को कलाधर्मी कार्यक्रमों से हटाकर सरकारी भोपू बनाने की मशीनरी तेजी से चली और केवल एक व्यक्ति की छवि बनाने के लिए उसका इस्तेमाल बेहयायी के स्तर तक उतर कर होने लगा। सत्ता की आत्मश्लाघा और भोंपूनुमा बड़बोलेपन ने श्रोताओं के मन में एक विरक्ति और डर भर दी। देश मे इमर्जेसी के दरम्यान आकाशवाणी से प्रसारित शब्द केवल हास्यास्पद हो कर रह गए और विश्वसनीयता के नाम पर लोग दूसरे देशो के प्रसारण सुनने लगे।[25] दूसरे आकाशवाणी को टेलीविजन और फिल्म की भी मार सहनी पड़ी। इसके बावजूद कुछ रचनाकारों ने उपयुक्त रास्ता निकालने की कोशिशें की तथा एक सरकारी विभाग में रहकर भी रचनाधर्मिता को जीवंत रखने का प्रयास किया। आज भी कोई अखबार अपने साहित्यिक परिशिष्ट के माध्यम से अथवा कोई पत्रिका मोटे तोर पर जितनी भी कविताएँ प्रकाशित करती हैं, उसंसे कहीं ज्यादे कविताएँ रेडियो पर प्रसारित होती हैं। देश के महानतम साहित्यकारों से लेकर नितान्त युवा रचनाकार तक को आकाशवाणी में अवसर मिलता है। आकाशवाणी ही ऐसा माध्यम है जहाँ रचनाकार अपना अधिकार समझकर लड़-झगड़कर भी कार्यक्रम ले लेता है। छोटे-से-छोटे शहर एवं कस्बे में भी जहाँ उसके लिए कोई और माध्यम नहीं है, उसकी रचनाएँ

---

24. शब्द की साख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 27
25. शब्द की साख, केशवचन्द्र वर्मा, पृष्ठ 27

कहीं नहीं छपती हैं, ऐसे लोगो को भी आकाशवाणी मे अवसर मिलता है। इस प्रकार रचनाकारो को अवसर देने से लेकर रचनात्मकता और साहित्य का वातावरण बनाना, यह सभी कार्य आकाशवाणी करता है।[26] इसी कारण आकाशवाणी अन्य इलेक्ट्रानिक माध्यमो में अभी भी शिष्ट एवं श्रेष्ठ है।

रेडियो से उपजी साहित्य कीनवीन विधाएँ

ऐसी बहुत सी विधाएँ हैं जो सिर्फ रेडियो के माध्यम से ही हो सकती है जिनमें रेडियो नाटक प्रमुख हैं। रेडियो नाटक एवं रगमंच के नाटक मे बहुत अतर है। रेडियो नाटक साहित्य की एक विधा के रूप में विकसित हो चुका है, उसका अध्ययन हो चुका है एवं उस पर शोधग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ रेडियो नाटक विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में स्थान भी पा चुके हैं। 'अन्धायुग' पूर्णतः रेडियो के लिए लिखा गया। विष्णु प्रभाकर जी ने बहुत सारे एकांकी नाटक रेडियो के लिए लिखे। इसी तरह रेडियो रूपक एक अलग विधा बन गई।[27] आकाशवाणी के अस्सी से ज्यादा केन्द्रों से विभिन्न भाषाओ में रूपक और नाटक प्रसारित किए जाते हैं। मूल नाटकों के अलावा लोकप्रिय उपन्यासों, लघु कथाओ और स्टेज नाटको के रेडियो रूपांतर भी प्रसारित किए जाते हैं अनेक आकाशवाणी केन्द्र बेरोजगारी, अशिक्षा, पर्यावरण प्रदूषण, लड़के-लड़कियों के बीच भेदभाव जैसी ज्वलन्त सामाजिक समस्याओं पर नियमित रूप से पारिवारिक-धारावाहिक-नाटक प्रसारित करते हैं। महीने मे चौथे बृहस्पतिवार को नाटकों या रूपकों का राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है। जिसमे क्षेत्रीय केन्द्रों से हिन्दी नाटक और उनका विभिन्न भाषाओ में अनुवाद प्रसारित किया जाता है। दिल्ली के केन्द्रीय रूपक एकांश मे 30-30 मिनट की अवधि के विशेष भाषाओं में रेडियो नाटककारो की अखिल भारतीय प्रतियोगिता आयोजित की जाती है। सभी पुरस्कृत प्रवृष्टियों का हिन्दी में अनुवाद करके उन्हें सभी केन्द्रों मे भेजा जाता है जहाँ उनका विभिन्न भारतीय भाषाओं में रूपांतर होता है।

---

26 साक्षात्कार - लक्ष्मीशकर बाजपेयी, आकाशवाणी दिल्ली द्रष्टव्य, सचार माध्यम बनाम साहित्य-योगेन्द्र प्रताप सिह

27. साक्षात्कार - लक्ष्मीशकर बाजपेयी, आकाशवाणी दिल्ली, द्रष्टव्य, सचार माध्यम बनाम साहित्य-योगेन्द्र प्रताप सिंह

रेडियो नाटकों का प्रसारण 1928 से हुआ। 3 जनवरी 1936 को क्षीरोदचन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित बंगला नाटक 'मनतोष' का उर्दू रूपांतरण नई दिल्ली केन्द्र से हुआ। नाटको के अखिल भारतीय कार्यक्रम के अंतर्गत पहला रेडियो नाटक 26 जुलाई 1956 को प्रसारित किया गया। शुरू में रेडियो नाटक रंगमंचीय नाटको जैसे ही होते थे। राजनारायण मेहरा के नाटक 'नल दमयन्ती' को अधिकांश व्यक्ति रेडियो का प्रथम हिन्दी नाटक मानते है। इसका प्रथम प्रसारण 13 नवम्बर 1936 को हुआ। कुछ प्रसिद्ध रेडियो नाटक लेखक हैं— सआदत हसन मंटो, कृष्ण चन्दर, उपेन्द्र नाथ, 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, .डॉ० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्द दास, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, चिरंजीत, मोहन राकेश, राजाराम शास्त्री और धर्मवीर भारती। प्रसारण कार्यक्रमो में संगीत के बाद नाटक सबसे दिलचस्प कार्यक्रम माना जाता है। आकाशवाणी के कार्यक्रमो का लगभग 3.7% समय रोडियो नाटकों और रूपकों पर दिया जाता है। 1980 में कुल कार्यक्रमों से रेडियो नाटकों के प्रसारण पर 13,270 घंटे 10 मिनट समय दिया गया है। आकाशवाणी के केन्द्रो से हर वर्ष पाँच हजार नाटकों का प्रसारण होता है। नाटकों के अखिल भारतीय कार्यक्रम के अन्तर्गत दिल्ली से हर महीने में एक बार नाटक का प्रसारण होता है। उसे प्रादेशिक केन्द्र या तो रिले करते हैं या अपने क्षेत्र की भाषाओ मे अनुवाद करके प्रसारित करते हैं।[28]

रेडियो नाटक में पात्र की मनोदशाओं का चित्रण शब्द के माध्यम से किया जाता है। विभिन्न रचनाकारों द्वारा रचित जिन प्रमुख नाटकों का प्रसारण आकाशवाणी द्वारा हुआ है उनमें है— 'अन्धाजोगी' (एफ. सी. माथुर, प्रसारित 12-1-39), 'मंदिर' (एस सी सरकार, 8-10-39), 'पूरन भगत' (कृष्णलाल प्रेम, 12-6-40) 'सीता स्वीकार' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री, 16-3-40), 'मालती माधव' (जे. एन. श्रीवास्तव, 13-7-46), 'गंगावतरण' (एस. एन. चौबे, 1-4-47), 'पहाड़ के देवता' (राज माथुर, 17-5-47), 'सागर मन्थन' (कृष्णचन्द्र देव बृहस्पति, 24-5-47), 'कलिंग की विजय' (हरीशचन्द्र खन्ना, 25-5-47), 'उद्धव संदेश' (एस. एन चौबे, 14-6-47),

---

28. आकाशवाणी, राम बिहारी विश्वकर्मा, पृष्ठ - 44

'नव भारत' (सेठ गोविन्ददास और चन्द्रगुप्त विद्यालकार, 16-8-47), 'विश्वामित्र' (उदयशंकर भट्ट, 1944), 'अन्त:पुर का छिद्र' (गोविन्द बल्लभ पत, 1940), 'कलिंग विजय' (जगदीश चन्द्र माथुर, 1937), 'औरगजेब की आखीरी रात' (डॉ० राम कुमार वर्मा, 8-6-42), 'अन्धायुग' (धर्मवीर भारती,, 1954), 'विल्वमंगल की ऑखे' (चिरजीत, 31-5-63), 'घर का किवाड' (निर्मला दर, 4-10-63), 'हम हिन्दुस्तानी' (चिरंजीत, 29-11-70), 'जहर का कोई रंग नहीं' (रेवती सरन शर्मा, 1974), 'रगीन रोशनदान' (के पी सक्सेना, 1-6-79) 'विद्रुप' (मुद्राराक्षस, 26-2-76), 'यक्षप्रिया' (कैलाश भारद्वाज, 11-3-75), 'एक और अजनबी' (मृदुला गर्ग, 1977) 'एक फूल का पतझड' (कांति देव, 22-2-77), 'तीसरा डंक' (राजेन्द्र कुमार शर्मा, 16-2-73), और 'काले सूरज की शवयात्रा' (मुद्राराक्षस, 24-7-75) आदि।[29]

नाटक को हमारे आचार्यों ने दृश्यकाव्य की संज्ञा दी है, लेकिन वैज्ञानित विकास के युग में रेडियो के आविष्कार के बाद नाटक का दृश्य रूप गायब हो गया और श्रव्यरूप रह गया। रेडियो नाटकों की रचना केवल श्रव्य उपकरणों को ध्यान मे रखकर की जाती है। नाटक का यह श्रव्यरूप साहित्य के अधिक निकट है। रेडियो नाटक कथोपकथन एवं संगीत पर ही चलता है। कथावस्तु की श्रृंखला वहाँ वाचक-वाचिका के शव्दो मे जोडी जा सकती है, यद्यपि बार-बार वाचक और वाचिका को लाना नाटककार की अक्षमता का बोध कराता है। रेडियो नाटक में दो कलाओं का मिश्रण बड़ी आसानी से हो सकता है - साहित्य और सगीत। साहित्य के अन्तर्गत भी कहानी और कविता रेडियो और नाटको पर एक साथ आ सकते हैं।[30] रेडियो नाटक का शिल्प अभी विकानशील है। सम्पूर्ण रूप से कथोपकथन मे बॅधी हुई कहानी रेडियो नाटक में सफल होती है। इस कथोपकथन का काव्यमय होना या प्रभावशाली होना ही अनिवार्य है, यदि बहुत पात्र हुए तो उसमें व्याघात पहुँचता है। दो चार पात्रो की आवाजों से तो हम उन्हें पहचान सकते हैं, पर

---

29 आकाशवाणी, राम विहारी विश्वकर्मा, पृष्ठ 46

30. साहित्य की मान्यताएं - डॉ० भगवती चरण वर्मा, पृष्ठ 16

जहाँ पात्रों की संख्या अधिक हुई श्रोता भटकने लगता है।[31]

विगत में रंगमंच पर अभिनय से पृथक नाटक का अस्तित्व विशुद्ध साहित्यिक रूप में कुछ सन्दिग्ध सा रहा है। नाटक के साथ अभिनय की अनिवार्यता को देखते हुए नाटक को हिन्दी साहित्य में स्थान प्राप्त करने के लिए सघर्ष करना पड़ा। जबकि शेक्सपियर मूलत: नाटककार है और उनके नाटको मे जो कवित्व है वह केवल अभिनय का ही नही है, वह पठित साहित्य में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इसी प्रकार कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की प्रतिष्ठा पठित काव्य के कारण है। किन्तु नाटक जहाँ साहित्य का अभिन्न अंग होकर साहित्य के इतिहास ग्रन्थो में विवेचित होन लगा है वहीं रेडियो नाटक अपनी स्वीकृति के बावजूद साहित्य के इतिहास ग्रन्थों मे अपना स्थान रेडियो नाटक के रूप मे नहीं बना सका है। किन्तु अब वह समय दूर नहीं जब रेडियो नाटक अभिनय की उपयुक्तता एवं उत्कृष्ट सृजनधार्मिता के कारण साहित्य की अनिवार्य विधा बन जाए।

इसी तरह कुछ अन्य विधाएँ भी हैं जो किसी अन्य माध्यम से संभव ही नहीं हैं जैसे, किसी कहानी के रेडियो प्रस्तुति की। किसी कहानी में यदि ट्रक चलने का वर्णन है तो कहानी में पढ़ सकते हैं कि 'ट्रक चला जा रहा था' किन्तु रेडियो में यह सुविधा है कि ट्रक चलने का ध्वनि प्रभाव दे सकते हैं। कहानी की रेडियो प्रस्तुति मे नाटकीय रूप में दे सकते हैं, संवाद पढ़ने की जगह पर संवाद बुलवा सकते हैं, सुबह के दृश्य को ध्वनि प्रभाव से उकेर सकते हैं, लड़ाई के दृश्य वर्णन को ध्वनि प्रभाव से उपस्थित कर सकते हैं। यह सब मात्र रेडियो में ही संभव है। न तो पत्रिका से संगीत निकल सकता है, और न अखबार से ।

इधर कुछ और विधाएँ विकसित हुई हैं जिसे साहित्यिक मान्यता भले ही न मिली हो जैसे 'रेडियो रिपोर्ट' और 'गीतों भरी कहानी'। अन्य रिपोर्टिंग मे वक्तव्यों को सीधे कहना पड़ता है

---

31. वही, पृष्ठ 168

जबकि रेडियो मे उस साहित्यकार की आवाज मे ही वो बात प्रस्तुत कर सकते हैं। 'गीतो भरी कहानी' रेडियो की अपनी विधा है। उसमे कई-कई बार फिल्मो के गीत प्रयोग होने के कारण इसे कोई साहित्य की मान्यता नहीं देता है।

रेडियो : मौखिक साहित्य का संवाहक

रेडियो अन्तरंग माध्यम है। श्रम परिहार एव श्रम के साथ दोनो ही स्थितियों मे रेडियो की अतरंगता संभव है। रेडियो इस युग मे लोक साहित्य की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम हो सकता है। क्योंकि समाज की बदलती परिस्थिति मे सामुहिकता का अभाव होते जाने से एकांतिकता बढ़ रही है। इस स्थिति मे सामुहिक उत्सवधर्मिता की बजाय एकांतिकता का ही अवसर अधिक है। फलत: इसी कारण से परंपरागत लोक माध्यमो की तुलना में ऐसे माध्यम यथा रेडियो, टीवी, फिल्म आदि का आज वर्चस्व है। जिसमे आदमी भीड मे भी अवतरण, रेडियो में संभव है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि लोक साहित्य की भरपाई आकाशवाणी में केवल विकास गीतों से ही न की जाए। जो सवर्था अस्वाभाविक सत्ता-स्तुति हुआ करती है।

रंगमंच, टीवी, फिल्म आदि अन्य माध्यमो मे लिखित साहित्य के अधिकांश भाग को माध्यमों के अनुकूल कुछ परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, वही पर रेडियो ही एक ऐसा माध्यम है जो साहित्य के मौखिक स्वरूप की यथावत अभिव्यक्ति करता है। इस रूप में रेडियो मौखिक साहित्य का प्रमुख संवाहक है जो शब्द की सचेतन प्रस्तुति करता है। ऐतिहासिक अनुभवों से स्पष्ट है कि इलेक्ट्रानिक माध्यमों विशेषकर रेडियो के कारण बोली हुई भाषा की प्रभुसत्ता पुन: जीवंत हो उठी है। अस्तु यह और भी आवश्यक हो जाता है कि रेडियो टेलीविजन से अपनी स्पर्धा न करे तथा रेडियो रचनाधर्मी हाथों की साधना बने। इसी मे इसका भविष्य भी सुरक्षित है,अपने इस गुरुतर दायित्व निर्वाह से रेडियो निश्चित ही साहित्य का प्रमुख प्रसारक सिद्ध हो सकेगा एवं साहित्य की अन्यान्य नवीन विधाओं की खोज एवं स्थापना में सहयोग दे सकेगा।

दूरदर्शन और साहित्य

इलेक्ट्रानिक मीडिया का दूसरा महत्वपूर्ण माध्यम दूरदर्शन (टेलीविजन) है जो सभी माध्यमो से सर्वाधिक लोक प्रचलित है। दूरदर्शन से पूर्व लोकनाट्य एव प्रिंट मीडिया ने लोकभाषा एव साहित्य से सरोकार रखते हुए अपना स्वतत्र सास्कृतिक व्यक्तित्व खडा किया। इसी तरह आकाशवाणी ने भी उपरोक्त दोनो माध्यमो के अनुभव का लाभ लेते हुए लोकस्वरूप ग्रहण किया भारत मे दूरदर्शन ने मीडिया के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन स्थापित किया एव सूचना क्रान्ति का सवाहक बना। लोकनाट्य एव चित्रपट के बाद, किन्तु उससे भी महत्वपूर्ण और परिवर्तकारी माध्यम दूरदर्शन ने विशाल सभावनाओ का मार्ग प्रशस्त किया। प्रारम्भ मे दूरदर्शन को विकास की जिम्मदारी मिली किन्तु मनोरजन कार्यक्रमो की शुरूआत होने के उपरान्त दूरदर्शन ने अपने को छिछले स्तर पर उतार लिया और लगभग डेढ–दो दशक मे ही वह अपनी रचनात्मकता से चुक कर 'इडियट बाक्स' की उपाधि ग्रहण कर लिया।

विगत मे नाटक ने जिस प्रकार साहित्य–क्षम सवेदन को चाक्षुष सवेदन मे बदलने की सभावना का मार्ग प्रशस्त किया था उस तरह मे दूरदर्शन भी सभावनाशील था एव साहित्य की समझ एवं जनशिक्षा के विस्तार के उपयोगी उपकरण के रूप मे सार्थक सिद्ध हो सकता था तो भी दूरदर्शन ने अपनी सीमाओ एव सभावनाओ का ख्याल किए बिना इडियट बाक्स की छवि निर्मित कर लिया। यही वह समय है जब मीडिया से जुडे ढेरो प्रश्न खडे हुए एव इलेक्ट्रानिक मीडिया पर यह आरोप लगने लगा कि यह साहित्य का अहित कर रहा है और पाठक पुस्तक विमुख हो रहे हैं। इसी प्रश्न के साथ साहित्यकारो एव आलोचको के दो वर्ग खडे हुए। एक वर्ग ने दूरदर्शन से अपना सम्बन्ध बनाकर धन एव ख्याति दोनो अर्जित किया। दूसरे वर्ग ने साहित्यिक शुचिता के नाम पर शब्द ब्रह्म को पवित्र बनाए रखने का बीडा उठाया।

शुद्ध साहित्य की दृष्टि से न देखे तो भी दूरदर्शन अपनी सामाजिक भूमिका मे सोच–विचार या समझदारी बनाने का माध्यम हो सकता था, क्योकि दूरदर्शन अपने स्वभाव में ही लोकतान्त्रिक है। फिर भी दूरदर्शन अपने व्यापक प्रभाव के बावजूद उस जिम्मेदारी का निर्वाह न कर सका। सामुदायिक विकास के मूलमत्र से अपनी यात्रा प्रारम्भ कर टेलीविजन आज बाजार तंत्र के पूर्ण चंगुल में आ चुका है और

सम्पूर्ण जनसस्कृति को उपभोक्ता सस्कृति मे बदलने के उपकरण के रूप मे कार्य कर कर रहा है। वह बहुत कुछ राज्याश्रय से मुक्त होकर बाजार की शक्तियो से सचालित हो रहा है। "जब दूरदर्शन शुरू किया गया था तब यह प्रतिज्ञा ली गई थी कि वह जनशिक्षण और विकासमूलक माध्यम होगा, साथ ही वह जनता का मनोरजन भी करेगा। लेकिन देखते-देखते उसका काम सिर्फ 'मनोरजन' रह गया। जनशिक्षा और विकास विसर गए। आज दूरदर्शन पूरी तरह बाजार का 'दोस्त' है। पिछले चार-पॉच साल मे दूरदर्शन तेजी से बाजारोन्मुख हुआ। इसी दौर मे वह फैला और ग्लोबल होते हुए वह नई अर्थनीति और भूमडलीकरण का सबसे बडा वाहक बन गया।"[32] अन्य माध्यमा मे जहॉ सीमित था, वहॉ टेलीवीजन मे कला ब्रान्ड हो गया और मनुष्य सास्कृतिक एव जैविक इकाई नहीं बल्कि उपभोक्ता इकाई के रूप मे परिवर्तित हो गया। वस्तुत टेलीविजन के ऊपर खडे होने वाले प्रश्ना के लिए मूल कारण यही है क्योकि सरकार ने भी दूरदर्शन को एक कमाऊ पूत की तरह इस्तेमाल किया चाहे वह विज्ञापन मे शराब बेचे या कल्पनाजीवी अथवा अतियार्थवादी रोमास प्रस्तुत करे।

आज हम मल्टीचैनल के युग मे जी रहे हैं केबल टीवी ने गॉव एव मुहल्ले स्तर पर चैनल निर्माण को सभव बना दिया है। एक तरफ इलेक्ट्रानिक समाज निरतर सस्ते हो रहे हैं तो दूसरी ओर कागज-किताबो के दाम दिन-दूने चढ रहे हैं। गली मुहल्लो मे लाइब्रेरी की बजाय बीडियो लाइब्रेरी खुल रही है। "इलेक्ट्रानिक मीडिया के युग मे या टेलीवीजन युग मे किताबो का भविष्य क्या है, यह भी एक अत्यत महत्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न है। आज प्रबुद्ध वर्ग भी टेलीविजन देखने का आदी होता जा रहा है। लगता है आज जैसे सारे शिक्षित समाज को किताब पढने का समय ही नही है। आज पठन-पाठन की वह सस्कृति मिटती जा रही है जिसमे तात्कालिक उत्तेजना नहीं, आसन लगाकर कई घटों बैठने के बाद ही रस मिलता है। पढना थोडा-बहुत है तो भी वह अखबारों तक सीमित है, किताबों के प्रति जिज्ञासा है तो उसे पुस्तक समीक्षाएँ पढकर जिज्ञासा तृप्त कर लिया जाता है। आज अपने शहर को, गॉव को टेलीविजन के प्रभाव क्षेत्र में लाने का दबाव सरकार पर अवश्य डाला जाता है। लेकिन पुस्तकालय,

---

32. दूरदर्शन विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी, पृ 7

वाचनालय खोलने का न सरकार पर दबाव है और न गैर सरकारी सरथाएँ ही इसके लिए प्रयासरत हैं।"[33] इलेक्ट्रानिक माध्यमों ने पढने की रूचि को प्रभावित किया है, साथ ही इनके दवाव के कारण गंभीर साहित्य के अध्ययन–मनन पर प्रभाव पडा है। आज गभीर साहित्य एव पत्र–पत्रिकाएँ इलेक्ट्रानिक मीडिया खासकर दूरदर्शन से अपनी प्रतिस्पर्धा करने लगी हैं। पठनगी एव गम्भीर सामग्री की बजाय आकर्षक एव सक्षेप मे सदर्भ प्रस्तुत करने वाली सामग्री पर पत्र–पत्रिकाएँ ज्यादा ध्यान देने लगी हैं। यही कारण है कि गभीर से गभीर विषयो का प्रतिपादन करने वाली पत्रिकाएँ भी फिचराइच्ड हो गई हैं।

टेलीविजन मे 'हमलोग' से सीरियल जैसी नई विधा की शुरूआत हुई और अब टेलीवीजन के लिए धारावाहिक अत्यन्त लोकप्रिय विधा हो गई है। इस समय टेलीविजन का अधिकाश समय धारावाहिको के प्रसारण मे ही व्यय होता है। "सीरियल मूलत एक नाट्यरूप मे प्रस्तुत कहानी की ऐसी विधा है जो दर्शक के विवेक ज्ञान या सवेदनशील ससार को किसी तर्क या विश्लेषण के माध्यम से प्रस्तुत न करके उसके सीधे सवेदनात्मक ससार पर अपनी समूची शक्ति केन्द्रित करती है इसलिए एक सम्पन्न सीरियल में एक प्रभावोत्पादक कथा के साथ–साथ ऐसी पटकथा की सरचना जरूरी हो जाती है जो दर्शक से सीधे–सीधे बिना किसी व्यवधान के रागात्मक तादात्म्य स्थापित कर सके। सीरियल की पटकथा सरचना इस मायने मे किसी कहानी के नाट्य रूपातर के काफी नजदीक बैठती है किन्तु कैमरे की कला होने के कारण वह नाटक की सरचना से भी थोडी अलग और विशिष्ट बन जाती है। यह बहुत कुछ पारपरिक रस–सिद्धान्त के साधारणीकरण को अपना आधार बनाकर चलती है जो बहुत कुछ फिल्मों से मिलता जुलता तत्व है।"[34] इससे कुछ लोग सीरियल और फिल्म को एक समान विधा मानकर चलते हैं तो कुछ लोग कथा साहित्य पर आधारित विधा होने के कारण इसे साहित्य के नजदीक मानते हैं। इसी कारण धारावाहिको ने प्रारम्भ मे बम्बई के फिल्म उद्योग को बडी मात्रा मे आकर्षित किया तो दूसरी ओर धारावाहिक निर्माण के लिए बडी संख्या मे साहित्यिक कृतियो को आधार बनाया गया। दूरदर्शन ने अपने लिए धारावाहिक लेखक पैदा किया एव रचनाकारो को अपनी ओर धन, लोकप्रियता एवं ग्लैमर के कारण आकर्षित किया। इसके बावजूद दूरदर्शन एव साहित्य मे विकसित होते रिश्ते ने अत्यन्त

---

33 अवधारणाओं का सकट पूरनचन्द जोशी पृष्ठ 77
34 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृ 72

गम्भीर और विचारणीय रूप ग्रहण किया और साहित्य की साख समाप्त करने का आरोप दूरदर्शन पर लगा।

दूरदर्शन से जितने साहित्यिक या साहित्यिक किस्म के धारावाहिक प्रसारित हुए उनसे लेखको को आर्थिक लाभ अवश्य हुआ परन्तु इससे साहित्यिक कृतियो की श्रेष्ठ प्रस्तुति नहीं हुई। "कथा की दृष्टि से भी दूरदर्शन ने दो–तीन तरह के सीरियल दिए। 'कथा सागर', 'दर्पण', 'एक कहानी', 'रागदरबारी','बसती', 'कभी दूर कभी पास', 'सत्यजीत रे प्रेजेन्ट्स' आदि सीधे साहित्यिक कृतियो को आधार लेकर बनाए गए तो 'ये जो है जिन्दगी, 'हमलोग', 'नुक्कड', 'बुनियाद', 'रजनी', किसी कथाकृति पर आधारित न होकर दूरदर्शन के लिए लिखे गए सीरियल हैं। यदि लोकप्रियता का चार्ट देखा जाए तो दूरदर्शन के लिए खासकर लिखे गए सीरियल कथाकृतियो पर बनाए गए सीरियलो से अधिक लोकप्रिय एव प्रभावशाली रहे।"[35] 'रागदरबारी' (श्री लाल शुक्ल)', 'निर्मला' (प्रेमचन्द), 'बसन्ती' (भीष्म साहनी), 'श्रीकान्त' (शरत बाबू), 'रथचक्र' (मराठी) 'दर्पण', 'एक कहानी' (कहानियो पर आधारित) एवं 'चन्द्रकान्ता' (देवकी नन्दन खत्री) आदि धारावाहिक दूरदर्शन से प्रसारित हुए पर इन सबको वह लोकप्रियता न मिल सकी जैसी 'हमलोग' या 'बुनियाद' को मिली। चन्द्रकान्ता की जरूर धूम रही परन्तु यह धारावाहिक मूल चन्द्रकान्ता से बहुत अर्थो मे भिन्न रहा। आलोचको ने यहाँ तक कहा कि–"कैमरे ने चन्द्रकान्ता को नष्ट किया है, बनाया नहीं है। बम्बईया कैमरा नष्ट ही करता है निर्माण नहीं करता।"[36] दोनो 'चन्द्रकान्ता' के अतर को रेखाकित करते हुए एक आलोचक ने कहा कि खत्री के यहाँ कौशल, बुद्धि चातुर्य और खेल पर बल है। यहाँ बारूद पर बल है, एक्सन पर बल है, शौय और हिसा पर बल है। खत्री के यहाँ तिलिस्म मे कैद प्रेम है, यहाँ चन्द्रकान्ता पन्द्रह मिनट तक वीरेन्द्र से कहती है कि 'मुझे स्वीकार करके तो देखो ?' (मेरे बाल भी सेक्सी, मेरे गाल भी सेक्सी)। खत्री की चन्द्रकान्ता पाठक की कल्पना पर अपने पाठ को पूरी तरह छोडती है। यह चन्द्रकान्ता दर्शक के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखती। यहाँ सब कुछ स्पष्ट है। सिर्फ खत्री की चन्द्रकान्ता नहीं है। निरजा ने उसे तिलिस्म के मनोरम अकेले संसार से निकालकर बी–ग्रेड की बम्बईया फिल्मों के दृश्यों में फेंक दिया है। वह किसी चिडियाघर मे झीने वस्त्र पहने गलत

---

35 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 116

36 'देखी–सुनी' स्तम्भ 'जनसत्ता' लेखक अजदक, 3 अप्रैल 1994

ढग से वीरेन्द्र लिख सकती है। यह एक कृति की हत्या है। ऐसी हत्या जो खुलेआम हुई है, जिसे होना था, होना है, हर महान वृतात वाले हैं। जो लोग इस चन्द्रकाता को देख निराश हो वे समझ ले कि साहित्य अब सस्कृति उद्योग बन चला है। जो खुश हैं वे बी ग्रेड के दर्शन होने का गर्व पाल सकते हैं।"[37]

कुछ ऐसी ही स्थिति टेलीफिल्मो की भी रही। गोविन्द निहलानी द्वारा निर्देशित "सूरज का सातवॉ घोडा" एक सफल प्रस्तुति कही जा सकती है। मूल सवदना परिवर्तित किए बिना माध्यमो की स्थिति के कारण थोडा–बहुत परिवर्तन क्षम्य है किन्तु "अक्सर हम देखते हैं कि टेलीविजन बनाने के लिए कृति तो ले ली जाती है एक महान साहित्यकार की, लेकिन उसे बना रहा है वह व्यक्ति जो आज के मिर्च–मसाला फिल्मो के माहौल मे पला है और जिसकी आज के दर्शको को फिल्मी माध्यम से उसके उत्कृष्ट रूप मे नही निकृष्ट रूप मे रिझाने की आदत है। जाहिर है ऐसी महान रचनाओ को भी फिल्मी ढॉचे मे ढालकर विकृत कर देती है। इस सदर्भ मे हमे टेलीविजन द्वारा उच्च साहित्य के प्रदूषण और तोड–मरोडे की प्रकृति पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। क्या ऐसी तोड–मरोड की टेलीविजन की प्रकृति है या टेलीविजन का दुरूपयोग ? अगर टेलीविजन के लिए उच्च साहित्य को फिल्माने का कार्य योग्य निर्माताओं को सौंपा जाए तो क्या टेलीविजन द्वारा उच्च साहित्य को बिना उस साहित्य की आत्मा को ठेस पहुॅचाएँ आम जनता तक पहुॅचाया जा सकता है ? मेरी राय मे साहित्यकारो को इस प्रश्न पर भी सोचना चाहिए।"[38]

दूरदर्शन की भाषा के प्रति नीति सगत और सुनियोजित नहीं रही है। "रेडियो की भाषा प्रिट मीडिया की भाषा थी किन्तु लम्बे अरसे से उसको बोलते–बोलते रेडियो ने उसे काफी हद तक अपने स्वभाव के अनुकूल कर लिया। एव वाचिक भाषा का सस्कार बन गया। 'ये आकाशवाणी है' कहते वक्त वाचक और स्रोता के बीच नया सम्बन्ध बनने लगा। चूॅकि वह एक वाचिक यानी बोला–सुना जाने वाला माध्यम था इसलिए उसने बोलियों उपभाषाओ और मुहावरो को अपनाया। एक नई भाषा विकसित हुई। रेडियो का विस्तार ज्यों–ज्यों हुआ त्यों–त्यो उसने स्थानीय भाषाओं को अपनाया।"[39] वैसे भी "एक

37 टी वी टाइम्स, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 140
38 अवधारणाओं का सकट पूरनचन्द्र जोशी, पृष्ठ 77
39 दूरदर्शन : विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी, पृ 106

माध्यम जब किसी भाषा को माध्यम बनाता है तो वह उसे अपने अनुकूल बनाता है, वह अपने श्रोताओ–दर्शको के हिसाब से बदलता है, इस तरह उनके बीच अपनी जगह बनाता है।"[40] भाषा के साथ ही रेडियो ने प्रिटमीडिया का सर्जनात्मक सस्कार ग्रहण कर लिया एव समाज मे गम्भीर माध्यम के रूप मे अपनी उपस्थिति दर्ज की । किन्तु दूरदर्शन मे आते–आते स्थिति बिल्कुल बदल गई। जिस तरह देवकी नन्दन खत्री के 'चन्द्रकाता सतति' और 'भूतनाथ ने एक जमाने मे गैर हिन्दी भाषी और असाक्षर हिन्दी भाषियो, दोनो को हिन्दी भाषा सीखने पर मजबूर किया था, दूरदर्शन ने असाक्षरो को घर बैठे एक सार्वजनिक हिन्दी भाषा दी।"[41] इसका नकारात्मक पक्ष यह है कि दूरदर्शन की हिन्दी क्रान्ति का शायद सबसे महत्वपूर्ण पहलू विज्ञापन की भाषा है। बहुतायत मे जो विज्ञापन आते हैं वे हिन्दी मे होते हैं। विज्ञापनो ने हिन्दी को जितना फैलाया है उतना शायद सीरियलो ने भी नहीं फैलाया। हालत यहॉ तक जा पहुॅची है कि प्रशासन या सरकार को यदि कोई विकासमूलक सदेश भी देना होता है तो वह विज्ञापन की भाषा मे होता है। फिल्मे, सीरियल और विज्ञापनों ने मिलकर हिन्दी को व्यापार की भाषा बनाया है, इतना अधिक कि अंग्रेजी वाले तमाम विज्ञापन हिन्दी मे आते हैं। हिन्दी सीधे उपभोक्ता क्रान्ति की वाहक बन गई।"[42] तथापि दूरदर्शन ने फिल्म सीरियल एव विज्ञापनो के माध्यम से एक बाजारू भाषा को जन्म दिया, जो न तो शुद्ध हिन्दी रह गई और न अग्रेजी। जिसको आलोचको ने 'हिग्रेजी' या 'हिंग्लिश' का नाम दिया। दुर्भाग्य यह है कि हमारी भावी पीढी मातृभाषा के रूप मे इसी बाजारू भाषा से सपोषित हो रही है।

टेलीविजन के पूर्व नाटक एवं फिल्म भी दृश्य–श्रव्य माध्यम थे किन्तु टेलीविजन के पूर्व कभी भी इतने प्रश्न नहीं खडे हुए जितने कि दूरदर्शन पर हुए। इसका कारण मात्र टेलीविजन का अन्य माध्यमो की अपेक्षा अधिक प्रचलन में आना नहीं है। बल्कि टेलीविजन की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। ये सभी दृश्य–श्रव्य माध्यम होकर भी अपने मे विशिष्ट हैं, किसी एक ही कथाकृति पर आधारित होकर भी इन तीनों माध्यमो से प्रस्तुत रचना माध्यम की सरचना एवं प्रकृति के कारण भिन्न एवं विशिष्ट है। नाटक के

40 दूरदर्शन - विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी पृष्ठ 106
41 दूरदर्शन विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी पृष्ठ 108
42. दूरदर्शन · विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी पृ 110

दर्शक एवं पाठक मे तादात्म्य देखा जा सकता है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से भी दोनो मे एकता है। साधारणीकरण की दृष्टि से नाटक एव फिल्म मे भी समानता मिलती है किन्तु दूरदर्शन में स्थिति कुछ भिन्न हो जाती है। दूरदर्शन से फिल्म देखने का सपना एक अलग अनुभव है। "फिल्मे जब तक सिनेमाघरों मे देखी जाती रहीं तब–तक हमारा सास्कृतिक अनुभव एक दर्शक, एक भावक और एक रसिक का था। फिल्मे लगभग भरत के नाट्यशास्त्र के रससिद्धान्त के साधारणीकरण की प्रविधि से सम्प्रेषण करती थीं। टीवी पर आती फिल्मे एक भाव या रसिक के अनुभव को नष्ट कर शुद्ध उपभोक्ता का अनुभव बनाती हैं। सिनेमाघर में फिल्म देखना और घर पर टीवी मे देखने मे सिर्फ साइज का ही फर्क नहीं होता अनुभव का भी फर्क होता है।"[43] इस फर्क का अनुभव सहज ही किया जा सकता है। "सिनेमाहाल मे व्याप्त अधेरा अगल–बगल बैठे दर्शको के बीच अपरिचय की एक हल्की सी चादर तानकर उसकी निजता की चेतना को भी तीव्र करता है ताकि दर्शक और भी अधिक सहज तथा शुद्ध दर्शक बन सके और स्वयं को भीड के मध्य पाकर भी अकेला महसूस न कर सके। 'भीड के साथ एकेले की यह अनुभूति दर्शक की स्वतत्रता की पहरी की भॉति कार्य करती है और उसे एक साथ आवश्यकतानुसार सामूहिक और 'निजी' आनन्द की अनुभूति कराती है। थिएटर हाल के अदर का झीना वातावरण उसकी सवेदना को एक विचित्र किस्म के हल्के–हल्के रहस्य से भरता है, जो बाद मे फिल्म के प्रदर्शन के साथ–साथ कथानक की संवेदना से तालमेल बैठाते हुए आगे बढ़ता है।"[44] यही स्थिति नाटक के दर्शकों के साथ भी होती है। इन स्थितियो में दर्शकों का रचना से पूर्ण तादात्म्य रहता है और वह ताली आदि बजाकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। किन्तु दूरदर्शन के साथ स्थिति भिन्न है। यहाँ दर्शक निष्क्रिय हो जाता है। वह अन्य घरेलू कार्य करते हुए भी मनोरजन का आनन्द उठाना चाहता है। टेलीविजन का एक घरेलू माध्यम होने के नाते दर्शक प्राय. उसके साथ गम्भीर नहीं हो पाता। "घर का वातावरण ऐसा होता ही नहीं कि उसके सदस्य कम–से–कम दूरदर्शन के मामले मे गंभीर हो सके। सच तो यह है कि वे दूरदर्शन की ओर से भी किसी प्रकार के गंभीरता की अपेक्षा नहीं करते। उनकी चेतना में उसकी तस्वीर एक मनोरंजन करने वाले यंत्र से अधिक नहीं है। हमें यहाँ इस अंतर को समझना होगा कि दूरदर्शन पर किसी धारावाहिक, जैसे रामायण,

---

43. मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 69
44. सिनेमा की संवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 55

महाभारत आदि का लोकप्रिय होना अलग बात है तथा उसका गभीर होना अलग बात है। इन दोनो अत्यंत लोकप्रिय धारावाहिको की सफलता का मूल कारण उनकी कथाओ मे निहित ऐतिहासिकता एव उसके प्रति दर्शको का श्रद्धा भाव है। जब भी ऐसे कथानको से दर्शको का वास्ता पडता है, तो उनका हृदय भावुकता की लहरो पर तैरने उतराने लगता है। ऐसा दूरदर्शन ही नहीं बल्कि फिल्मो के साथ भी होता है। उदाहरण के तौर पर 'जय सतोषी मॉ' की रिकार्ड तोड सफलता हमारे सामने है। जबकि इसके विपरीत 'भारत एक खोज' जैसा सशक्त एवं गम्भीर विषय अपने इतने अच्छे ट्रीटमेट के बावजूद लोकप्रियता नहीं पा सका। हॉ, उसे सराहना जरूर मिली।''[45] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि फिल्म दूरदर्शन की अपेक्षा अधिक साहित्यिक–संस्कारक्षम माध्यम है। बल्कि दूरदर्शन से जो अपेक्षित था उस रूप मे स्थापित होने मे वह सक्षम नहीं हो पा रहा है।

जिस प्रकार से नाटक या सिनेमा का दर्शक पूर्व तैयारी के साथ दर्शक की मनोभूमिका से उसे देखते हैं, टेलीविजन के दर्शक प्राय उस तरह नहीं होते हैं। इसके बावजूद टेलीविजन अन्य सभी माध्यमो में सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम हैं क्योकि टेलीविजन मे अपने दर्शको को अपनी ओर आकर्षित और प्रभावित करने की असीमित क्षमता है तथा उसके सामने बैठने वाला दर्शक उसे आसानी से छोड नहीं पाता है। ''हम फिर माध्यम के सिद्धांतवेत्ता मार्शल मैकलूहान के उस प्रसिद्ध वाक्य को उद्धृत करना चाहेगे कि 'माध्यम ही सदेश है।' 'Understanding Media' नामक पुस्तक मे मैकलुहान ने इस सूत्र को स्पष्ट करते हुए कहा कि टीवी एक ऐसा क्रान्तिकारी माध्यम है जिसमे सदेश और माध्यम पृथकता खो बैठते हैं। इस अर्थ मे यह एक 'परफैक्ट' मीडियम है, यहॉ सदेश और माध्यम अलग–अलग नहीं रह पाते। वे इकाई बन जाते हैं।''[46] इसी कारण उत्कृष्ट कार्यक्रमो का अभाव होने के बावजूद, दूरदर्शन का समाज पर व्यापक एवं गहरा प्रभाव है और वह नवसस्कृति के निर्माता की भूमिका मे आ खडा है, यदि रचनात्मकता से चुक गया तो सम्पूर्ण समाज को अधोगामी बनाने में भी सक्षम है।

दूरदर्शन की उपरोक्त ह्रासकारी स्थिति के कारण 'माध्यम' साहित्यकारों एवं समाजशास्त्रियों के लिए चिन्ता का विषय रहा है। वैसे किसी भी माध्यम का समाज पर नकारात्मक एव सकारात्मक, दोनों

---

45. सिनेमा की संवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 54
46. दूरदर्शन : विकास से बाजार तक, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 20

प्रभाव रहता है। "अभिव्यक्ति के किसी बडे माध्यम का सबसे ज्यादा प्रभाव यह पडता है कि वह ऐसे लोगो की सोच बनाता है, जिनकी अपनी कोई राय नहीं बन पायी होती है। उनसे सबसे ज्यादा वो प्रभावित होते हैं जो सीखने की दहलीज पर खडे होते हैं। जिनके लिए फतासी असली दुनियॉ की तरह सच बनकर सामने आती है। यह तो सच है कि आज के युवा वर्ग को टेलीविजन और फिल्मो से दूर नहीं किया जा सकता। अत जरूरी है कि अभिव्यक्ति के इन माध्यमो को व्यापक सामाजिक सदर्भ मे देखा जाए और वे जहॉ फिसले उन्हे सचेत किया जाए। खासकर टेलीविजन जैसे माध्यम पर नजर रखना और भी जरूरी है क्योकि ड्राइगरूम में घुसपैठ के कारण पारिवारिक मनोरजन की वह ऐसी अनिवार्यता बन गया है जिससे बच्चो को दूर रखना सभव नहीं है।"[47] अत साहित्य को टेलीविजन पर उतरने के पूर्व सवेदना एव मनोरजन की इस चुनौती को स्वीकार करना होगा और टेलीविजन के प्रति सचेतन स्वीकारोक्ति की दृष्टि अपनानी होगी। "दूरदर्शन सामान्य दर्शक के सौन्दर्य बोध, सामाजिक रूचि और साहित्यिक स्तर को बढ़ाने के साथ ही उसके प्रतिदिन के कार्यकलापों को सहज ढग से कार्यरूप देने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। यह परिष्कृत जीवन की ओर उन्मुख जीवन मे आशा की किरण भी उत्पन्न कर सकता है"[48] बशर्ते वह अपने को मात्र व्यावसायिक साधन बनने से रोक सके।

माध्यमों की विवेचना से हम पाते हैं कि "नए जनसचार माध्यम खासकर टीवी की सचार प्रविधि साहित्य को उसी तरह अपने अनुकूल करती है, बदलती है, जिस तरह प्रिट मीडिया ने कभी साहित्य को बदला था। वह साहित्य को उसकी निजता, स्थानीयता और वैचारिकता से मुक्त कर उसे सार्वजनिक, भूमण्डलीय और तात्कालिक शुद्ध प्रभाव केन्द्रित बनाती है। वह छवि और ध्वनियो को अतिरिक्त सक्रिय करती है और साहित्य को अनिवार्यतया 'दृश्य' मे बदलती है। टीवी मूलत दृश्य की प्रविधि है इसलिए अदृश्य को भी दृश्य में बदलती है। यही उसके प्रसारण की अभूतपूर्व मौलिकता है। इसलिए उसमें साहित्य ही नही हर कला नया रूप और अर्थ पाती है।"[49] इस प्रकार दूरदर्शन मे साहित्य का पुनर्सृजन होता है। फिर प्रश्न उठता है कि यह पुर्नसृजन साहित्य के पूर्व रूप की तुलना मे उतना ही सृजनात्मक एव श्रेष्ठ

---

47. जनसंचार–सपादित राधेश्याम शर्मा के 'जनसचार में फिल्मो तथा दूरदर्शन का योगदान –हरेश वशिष्ठ, पृ 198
48. (जनसचार–सपादित राधेश्याम शर्मा के 'जनसचार में फिल्मो तथा दूरदर्शन का योगदान –हरेश वशिष्ठ, पृ 198
49. मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 26

क्यो नहीं होता है। उसके उत्तर मे मूलत दो बाते की जा सकती हैं। एक यह कि जिस तरह लिखित साहित्य को पढने के लिए साक्षर होना आवश्यक है उसी तरह क्योकि नाटक के समान टीवी से भी सम्प्रेषण होता है, जो नाटक के साधारणीकरण सिद्धान्त के नजदीक ठहरता है, उसकी भाषा को समझने के लिए काव्य शास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त एव रस सिद्धान्त का ज्ञान होना आवश्यक है। पर लिखित साहित्य का इस माध्यम मे परिवर्तन करते समय शब्द को दृश्य देना पडता है। इन दोनो मे मूलत सवेदना महत्वपूर्ण है जिसका इस रूपातरण मे परिवर्तन नहीं होना चाहिए। परन्तु ऐसा करते समय सवेदनात्मक सप्रेषण क्षीण हो जाता है और रचना कमजोर पड जाती है। दूसरा यह कि टेलीविजन की भाषा और सचार की प्रक्रिया को केवल रससिद्धान्त के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता। इसमे प्रायोजक, लोकप्रियता, तकनीक आदि अन्य तत्व भी सक्रिय होते हैं जो रचना को प्रभावित करते हैं।

दूरदर्शन पर यह आरोप लगता है कि इसने साहित्यिक रचनाओ की साख को गिराया है। दूरदर्शन को यदि हम नितात साहित्यिक माध्यम न भी माने, तो भी यह आरोप बेबुनियाद नहीं है। दूरदर्शन के अतिरिक्त अन्य माध्यम भी सूचना, शिक्षा और मनोरंजन के सवाहक है किन्तु साहित्य की दृष्टि से दूरदर्शन जितने प्रश्नो से घिरा है उतना कोई अन्य माध्यम नहीं। अन्य माध्यमो के अनुभव के आधार पर साहित्य की दृष्टि से दूरदर्शन को भी सभावनाशील कहा जा सकता है। लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि वह साहित्यिक रचनाओ को उसके पूरे सदर्भ के साथ प्रस्तुत करे। रचना मे कहीं काट–पीट करनी भी हो तो वह लेखक की सस्तुति से हो। साहित्यिक कृतियो का सबन्ध सवेदना से है। जब तक दूरदर्शन समुदाय रचना की उस सवेदना को नहीं समझता, तब तक रचना के साथ न्याय होना सभव ही नहीं है। इसके लिए दूरदर्शन को अपनी नीतियो मे परिवर्तन करना होगा और रूख त्यागना होगा कि चूँकि कोई कृति प्रेमचन्द या रवीन्द्र नाथ टैगोर की नहीं है इसलिए उसके साथ मनचाहा व्यवहार किया जा सकता है। सबसे बडी बात साहित्यिक कृतियों को प्रायोजको के अकुश से बचाना है। प्रायोजक चूँकि पैसा देता है इसलिए उसकी दखलदाजी भी होनी जरूरी है, यह बात भी कहीं–न–कहीं साहित्यिक हितों की बलि दे रही है।"[50] दूसरे टेलीविजन पर प्रस्तुत कृति मूलत निर्देशक की कृति हो जाती है और लेखक की कृति सप्रेषित रचना का एक अग होता है, अत सप्रेषित रचना की पूरी जिम्मेदारी निर्देशक पर होती है। इस स्थिति में लेखक एवं निर्देशक की दृष्टि में साम्य आवश्यक हो जाता है। दूरदर्शन को भी यह नीति निर्धारित करनी चाहिए कि वह साहित्यिक रचनाओं को सम्मान दे एव उसकी प्रस्तुति में उसके साथ न्याय करे।

---

50 सरोकार, गिरिराज किशोर, पृष्ठ 73

डिजिटल माध्यम - इन्टरनेट और साहित्य

चर्चा के जिस प्रस्थान बिन्दु पर हम पहुँचे हैं वहॉ प्रख्यात समाजशास्त्री श्यामाचरण दूबे के एक दशक पूर्व व्यक्त किये गये उस विचार का स्मरण आवश्यक है, जो पूर्णत आज सत्य साबित हो रहा है कि "सचार के अन्य माध्यमो और साहित्य के बीच कठिन प्रतियोगिता भी निश्चित है। सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन साहित्य के प्रतिद्वन्दी रहे हैं, सहायक भी। प्रौद्योगिकी के विकास ने जो आश्चर्यजनक प्रगति की है, उससे यह भी सभव हो गया है कि एक केबुल और कुछ बटने जनसचार के साधनो को मिला–जुला रूप मनुष्य को उपलब्ध करा दे और उसकी यह विवशता भी दूर कर दे कि उस समय प्रस्तुत किए जाने वाले कार्यक्रमो मे से ही उसे अपनी रूचि का कार्यक्रम चुनना पडे। कार्यक्रमो का एक विशाल सग्रह अब उपलब्ध होगा और मनचाही सामग्री मनचाहे समय पर पाने के लिए कुछ बटने घुमाने और एक बटन दबाने का ही परिश्रम करना होगा। सगीत नृत्य, कला, चलचित्र, साहित्य, समाचार और सूचना सब इस नये माध्यम पर उपलब्ध होगे। पुस्तक सग्रहालयो का रूप बदलेगा, साथ ही पुस्तको का भी"[51] निश्चित ही यह माध्यम हम सबके बीच साकार हो चुका है, जिसे हम इन्टरनेट (अन्तरताना) कहते हैं, उसके बारे में उपरोक्त सभी पूर्णत सत्य है। "टेलीफोन लिक और माइक्रोफोन ट्रासमीशन जैसे वैज्ञानिक और इलेक्ट्रानिक सचार माध्यमो के सूक्ष्मतम और उच्चतम सार से विकसित यह आविश्व जाल (नेटवर्क) आज दुनियॉ का सबसे बडा वरदान है– मगर अभिशाप की पूरी शका लिए–'पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप' की तरह। क्योकि अन्वेषक, विचारक, स्रष्टा कल्याण के लिए जो खोजते और रचते हैं– उसमे कुछ लोग अकल्याण के अवसर निकाल ही लेते हैं"[52] अत सवर्था इस नए माध्यम के प्रति भी साहित्य चिन्तको की सचेतन दृष्टि आवश्यक है।

दूरदर्शन की अपसास्कृतिक गतिविधियो के कारण हिन्दी साहित्य जगत पहले से ही चितित था, अब इन्टरनेट जैसे वैश्विक तंत्र से बेखबर हिन्दी जगत के लिए इन्टरनेट धीरे–धीरे चुनौती के रूप मे खडा होता जा रहा है। संचार क्रान्ति के फलस्वरूप पुष्य सृष्टि मे सुन्दर पाप की तरह अन्तरताना (इन्टरनेट) का वैश्विक तंत्र सामान्य माध्यम के रूप मे अपनी घुसपैठ बनाता जा रहा है। हालाकि इस अन्तरताने (इन्टरनेट) के लिए आलादीन के जादुई चिराग रूपी सगणक (कम्प्यूटर) की आवश्यकता है, जो सामान्य लोगों की पहुँच से अभी काफी दूर है, तो भी अपने बहुआयामी एव प्रयोगधर्मी उपयोग के कारण इसका प्रचलन तेजी से बढ रहा है। ज्ञातव्य है इससे "साहित्य के परंपरागत रूपो के लिए यह विकास एक चुनौती होगा। साहित्य इस विकास का उपयोग साधन के रूप मे कर सकेगा, पर साथ ही उसे इन

---

51 मैथिलीशरण गुप्त अभिभाषण, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दृष्टव्य–परम्परा इतिहास बोध और सस्कृति, श्यामाचरण दूबे।

52 "भष्मासुरी न बन जाए जययात्रा" 'वागर्थ', सितम्बर 1997, पृष्ठ 5

नयी यात्रिकी को भी समझना होगा और नए माध्यम से समझौते करने होगे। इस तरह साहित्य का विस्तार तो सभव होगा पर उसके रूप मे अनिवार्यत अनेक परिवर्तन भी होगे। नए माध्यमो की सीमाओ एवं सभावनाओ को समझना आवश्यक है। अभी यह कह सकना कठिन है कि सचार व्यवस्था के आयामो में होने वाले ये परिवर्तन मानव के भावबोध को किस तरह प्रभावित करेगे। यह बहुत कुछ इस पर अवलबित होगा कि सचार व्यवस्था का नियत्रण किन हाथो मे है और उसका सचालन किन घोषित और अघोषित उद्देश्यो से किया जाता है।"[53]

अब हम इन्टरनेट पर उपलब्ध हिन्दी साहित्य की चर्चा करेंगे।

इन्टरनेट पर www 123 India com के माध्यम से जब खोज (Search) के खाने मे Hındı Language and lıterature अकित करते हैं तो हम http://www cs colostate, edu/~ malaıya/ hındı ıt. html के पते पर पहुँचते हैं जहॉ हिन्दी का होमपेज खुलता है और हिन्दी बोलियॉ, भाषा और साहित्य का सक्षिप्त परिचय मिलता है।[54] वाराणसी के गगाघाटो के छोटे से मनोरम दृश्य के साथ देवनागरी मे "हिन्दी गानो की भाषा, किसानो की भाषा, विद्वानो की भाषा "एव अंग्रेजी में "Hindi : the language of songs" का शीर्षक उभरता है। फिर उसके नीचे हिन्दी भाषा और साहित्य के बारे मे जो कुछ भी है वह अंग्रेजी मे है, फिलहाल गैर हिन्दी भाषियो के लिए महत्वपूर्ण एव शायद वैश्विक तत्र के लिए अग्रेजी की अपरिहार्यता के कारण। यह है योगा की तरह हिन्दी भाषा एवं साहित्य का अंग्रेजी सस्करण। हिन्दी के इस होमपेज पर आगे हम तीन शीर्षको पर पहुँच सकते हैं—

लिक्स टू हिन्दी रिसोर्सेज, आल एबाउट हिन्दी साग्स एव इमार्टल पोएट्स एन्ड आर्थर्स। पहले पर पहुँचकर हम हिन्दी के व्याकरण फोनेटिक्स आदि की कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे पर हिन्दी गीतकारो, गानों के बारे में जान एवं सुन सकते हैं तथा तीसरे साइट पर हिन्दी लेखकों की एक सूची मिलती है जो आरंभिक काल, मध्यकाल एवं आधुनिककाल के उपशीर्षकों मे वर्गीकृत है। इनमे से किसी भी रचनाकार के बारे में, रचनाओ को जान, पढ एवं सुन सकते हैं। इसमे से कुछ रचनाकारो के बारे में जानकारी मिलती है तो कुछ के बारे मे अभी जानकारी भरी नहीं जा सकी है। सिद्ध कवि सरहपा के बारे में जानने के लिए सरहपा पर क्लिक करने पर नानजन इस्टीट्यूट का होम पेज खुलता है जहाँ सस्काचेवान विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हर्बट गुन्थर द्वारा रचित पुस्तक "Ecstatic Spontaneıty :

---

53 मैथिली शरण गुप्त अभिभाषण माला, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, परम्परा, इतिहास बोध और सरकृति—श्यामाचरण दूबे से

54. दृष्टव्य, परिशिष्ट 'ख', इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एवं साहित्य पृष्ठ 174 175 177

Saraha's three cyeles of Doha" के साथ सरह का अत्यत सक्षिप्त परिचय मिलता है।[55] फिर इसी तरह महादेवी वर्मा[56] हरिवशराय बच्चन[57] या किसी भी अन्य की कविताओ का आनन्द ले सकते हैं और उपेन्द्रनाथ अश्क[58] या अन्य रचनाकार के बारे मे जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। गानो के वेबसाइट पर पहुँच कर अपने प्रिय कवि प्रदीप और गुलनार के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। अथवा वेब पर उपस्थित कुछ कवियो की समकालीन कविताएं पढ सकते हैं।[59] इसी प्रकार 'हिन्दी रचना', 'होम आफ हिन्दी पोएम' आदि वेब है"। यही वेब पर उपस्थित हिन्दी जगत का स्वरूप है। जिसे एक आलोचक ने इसे हिन्दी की एक भष्ट वेबसाइट बताया।[60]

भाषायी पत्रकारिता की दृष्टि से हम देखते हैं कि अखबारो के साथ–साथ साप्ताहिक–पाक्षिक पत्रिकाएँ वेब पर उपस्थित हैं। "भारत मे आन लाइन मीडिया की खास विशेषता यह है कि यहाँ अधिकतर साइट भारतीय भाषाओ के हैं। एक आकलन के मुताबिक कुछ 60 प्रकाशनो के सस्करण नेट पर मौजूद हैं जिनमे अग्रेजी समाचारपत्रो के साइटो की सख्या केवल 18 है–शेष भारतीय भाषाओ के साइट हैं। भारत में कभी–कभी सभी प्रमुख समाचार प्रकाशनो के आनलाइन संस्करण मौजूद हैं। . इसके अलावा छोटे समाचार पत्रो में हैदराबाद के 'हिन्दी मिलाप' मध्यप्रदेश के 'एम पी. क्रानिकल और बैंगलोर' के 'संजीवनी' के सस्करण भी आनलाइन पर है।[61] हिन्दी की मासिक 'कम्प्यूटर संचार सूचना' और वेद प्रदीप, तमिल की 'कौमुदम', 'कुयिल' और 'तमिल चोलाई', बगला की 'प्रवास' मराठी की 'जाले' और 'साहित्य अणि सस्कृत', कन्नड में 'विश्वकन्नड और 'बगलूर मन्थली' आल लाइन जैसी पत्रिकाएँ इन्टरनेट पर मौजूद है"।[62] जैसी अन्य भारतीय भाषाओ की पत्रिकाए इन्टरनेट पर है वैसी सशक्त लघुपत्रिका आन्दोलन को सपोषित करने वाले हिन्दी जगत की साहित्यिक पत्रिकाएं इन्टरनेट पर नहीं है। कैलिफोर्निया से अंशू जौहरी द्वारा सम्पादित हिन्दी की एक मासिक साहित्यिक पत्रिका इन्टरनेट पर मिलती है।[63] अप्रैल 2000 के संस्करण में 'उद्‌गार' शीर्षक से अशु जौहरी का एक सपादकीय लेख है[64] पाठकों की प्रतिक्रियाए

---

55 दृष्टव्य परिशष्ट ख इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ सख्या 180
56 दृष्टव्य परिशष्ट ख इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ सख्या 183
57 दृष्टव्य परिशष्ट ख इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ सख्या 182
58. दृष्टव्य परिशष्ट ख इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ सख्या 184
59 दृष्टव्य परिशष्ट ख इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ सख्या 186
60 दृष्टव्य "हिन्दी की भ्रष्ट वेब साइट – बटरोही, अमर उजाला, 1 अप्रैल 2000
61 Vidur भारतीय प्रेस सस्थान का जर्नल, अक्टूबर दिसम्बर 1998, पृष्ठ 38
62 Vidur - भारतीय प्रेस संस्थान का जर्नल, अक्टूबर दिसम्बर 1998, पृष्ठ 47
63 दृष्टव्य परिशिष्ट 'ख', इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ 188
64 दृष्टव्य परिशष्ट 'ख', इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य, पृष्ठ 190

हैं, कथाश शीर्षक से उत्कर्ष राय की 'पितृ ऋण' नामक लघुकथा[65] एव अन्य स्तभ है। किन्तु अपने को साहित्य मासिक घोषित करने वाला वेब कैलीफोर्निया के गैर हिन्दी भाषी जगत के लिए साहित्यिक हो सकता है किन्तु भारतीय हिन्दी साहित्य का गभीर एव श्रेष्ठ स्वरूप यहॉ नहीं मिलता है।

इन्टरनेट एव अन्य माध्यमो मे सबसे बडा अन्तर यह है कि इन्टरनेट एक अन्त क्रियात्मक माध्यम है। जहॉ पत्रकारिता में केवल "आपका पत्र" स्तभ ही अन्त क्रिया का अवसर प्रदान करते है, वहीं इन्टरनेट पर हर समय, हर जगह अन्त क्रिया का अवसर है। इन्टरनेट पर साहित्य की पुस्तको के लिए एक पुस्तकालय जैसा भी हो सकता है जहॉ साहित्य के साथ-साथ साहित्यिक पत्रिकाओ के नए पुराने सस्करण भी प्राप्त किए जा सकते हैं। किसी भी साहित्य के प्रकाशन मे सशोधित सस्करण होते हैं, इन्टरनेट एक ऐसा माध्यम है जहॉ अद्यतन सस्करण अत्यत कम समयान्तराल मे प्राप्त किया जा सकता है। कुछ ऐसे समाचार-पत्र हैं जो इ-मेल के माध्यम से समाचार प्रदान करते हैं। यहॉ बस इ-मेल के जरिए अपनी रूचि और पसन्द बस बताना पडता है। इसी प्रकार ई-मेल को माध्यम बनाकर साहित्य का प्रचार-प्रसार इन्टरनेट पर संभव है। परन्तु इन सभी सभावनाओ के बावजूद गंभीर साहित्य कम्प्यूटर स्क्रीन पर नहीं उतरा है जिसके लिए साहित्य जगत को एक भागीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है।

मल्टीमीडिया ने कम्प्यूटर को मुद्रण के ससार के अलावा रेडियो और टेलीविजन की दुनियॉ से जोडा है। अत. इन्टरनेट एक ऐसा माध्यम है जहॉ प्रिट माध्यम एव दृश्य-श्रव्य माध्यम दोनो संभव है। किसी दृश्य श्रव्य माध्यम से रचना की प्रस्तुति अपनी अभिव्यक्ति के कारण जहॉ विवादित हो जाती है वहीं प्रिंट मीडिया के साथ इन्टरनेट पर शब्दविधा मे यथावत प्रस्तुति के कारण साहित्य को भ्रष्ट होने से बचाया जा सकता है। इन्टरनेट का भविष्य साहित्य एव पत्रकारिता की भाषा एव सवेदना को बचाकर विकसित होने मे ही सुरक्षित है।

हालांकि हिन्दी जगत दूरदर्शन की अपसास्कृतिक कार्य-कलापो के कारण इन्टरनेट के प्रति सशंकित है। इसके पीछे इस माध्यम का पहले दुरूपयोग होना मूल कारण है। इसके बावजूद स्क्रीन पर कविता पढने एवं सुनने का एक अद्वितीय अनुभव है। मल्टीमीडिया के प्रयोग से कम्प्यूटर द्वारा कतिताऍ एक साथ पढी एवं सुनी जा सकती हैं। इसके लिए ऐसे साफ्टवेयरो के निर्माण की संभावना है। इसके साथ ही इस माध्यम के प्रति हिन्दी जगत के इस आरोप का उत्तर भी दिया जा सकता है कि ये भागीदारिता का अवसर नहीं देते हैं। क्योंकि एक पुस्तक की तरह स्क्रीन पर कविता के साथ यहॉ एक मार्जिन भी उपलब्ध है। इन संभावनाओं के साथ भाषा की उच्चतम शक्ति-कविता की उस गहराई को स्क्रीन पर उतारने की आवश्यकता है। आगे समय बताएगा कि यह कितना सर्जनात्मक है। एक समर्थ रचनाकार इस मीडिया मे रचना की जीवनी शक्ति उकेर सकता है। फिर सम्पूर्ण कविता की इस सम्भावना में एक संभावित प्रश्न भी निहित है कि क्या इलेक्ट्रानिक माध्यमो खासकर दूरदर्शन के कारण कविता की जो नकारात्मक क्षति हुई उसकी पूर्ति इस डिजीटल माध्यम से सभव है ?

---

65. दृव्यक परिशिष्ट 'ख' इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एव साहित्य पृष्ठ 193

अध्याय - पाँच

साहित्य एवं चित्रपट

अध्याय - पाँच

साहित्य एवं चित्रपट

मुद्रित शब्द को संचार माध्यमों मे सबसे पहले सिनेमा से चुनौती मिली। सिनेमा और साहित्य ने एक दूसरे को कितना प्रभावित किया इसका मूल्याकन अभी तक न हो सका है और न ही दोनों के सम्बन्धों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन ही हुआ है। दोनों के सम्वन्ध शुरू से ही विवादास्पद रहे हैं। आज सिनेमा और साहित्य को विकास के उच्च सोपान पर पहुँच जाने पर दोनों के सम्बन्ध को किसी निश्चित प्रमेय में ढालना उचित नहीं है। सरसरी निगाहो से यदि हम मानते है कि सिनेमा में एक व्यवस्थित कथा होती है, जिसके चारों ओर सिनेकला के अन्य तत्व चक्कर लगाते हैं तो यह बात स्वत: सिद्ध हो जाती है कि सिनेमा का साहित्य से सीधा रिश्ता है। इस रिश्ते की पहचान पहले के फिल्मकारों और साहित्यकारों, दोनों ने पूरी तरह की थी और दोनो ने एक दूसरे को पूरी तरह सहयोग करना भी शुरू किया था।[1] मुंशी प्रेम चन्द, भगवती चरण वर्मा, फणीश्वर नाथ 'रेणु', उपेन्द्र नाथ 'अश्क', अमृत लाल नागर, महावीर अधिकारी, रामअवतार त्यागी, नरेन्द्र शर्मा आदि साहित्यकार फिल्म से जुड़े। लेकिन हिन्दी के बहुत कम लेखक बम्बई की फिल्मी दुनियाँ में जम पाए, सिवा सुदर्शन, प्रदीप, नरेन्द्र शर्मा, कमलेश्वर और नीरज के। अधिकांश बम्बई की ढइयां छूकर वापस चले गए।[2]

पंत ने उदयशंकर की 'कल्पना' के गीत लिखे। उदयशकर भट्ट ने 'सागर लहरें और मनुष्य' बम्बई के चित्रपट के लिए लिखा था, यशपाल ने दिव्या भी। पर किसी ने इन्हें फिल्माया नहीं। रांगेय राघव ने 'हनुमान पाताल विजय' की कथा और डायलाग लिखे थे। बाद मे जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' पर फिल्म बनी। प्रेमचन्द के 'गोदान', 'सेवासदन' पर भी फिलम बनी। पर चली नहीं। हिन्दी के कई नए लेखकों की कहानियों एवं उपन्यासों पर फिल्मे बनीं, रांगेय राघव, रमेश बख्शी, निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, मन्नू भंडारी आदि अच्छे उदाहरण हैं, पर इन सवके एक या किसी की दो कथाओं पर फिल्में बनने के बाद यह कथा वहीं क्यों समाप्त हो जाती है? वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, अजेय, मोहन राकेश, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, नागार्जुन आदि सुविख्यात रचनाकारों की हिन्दी कृतियों में से कोई फिल्मवालों का ध्यान आकृष्ट क्यों नहीं कर सकीं? क्या, फिल्मों पर

---

1 सिनेमा की संवेदना, डॉ विजय अग्रवाल, पृष्ठ 35

2 जनसंचार : सम्पादित राधेश्याम शर्मा के जनसंचार माध्यम और भाषा-प्रभाकर माचवे के लेख से, पृष्ठ 131

साहित्यिक हिन्दी का कुछ भी प्रभाव नहीं पडा?[3] ये सारे ऐसे प्रश्न है जिनका उत्तर फिल्म और साहित्य की सीमाओं के मूल्याकन के लिए ढूढने पड़ेगे।

साहित्यिक कृतियाँ एवं फिल्म

फिल्म संसार की विशालता के बावजूद साहित्यिक रचनाओ पर भारत में अपेक्षाकृत कम फिल्मे बनीं हैं। 'गोदान', 'गबन', 'चित्रलेखा', 'संघर्ष' 'साहब बीबी और गुलाम', 'तीसरी कसम', 'गाइड' 'हजार चौरासी की मा', और आदि साहित्यिक कृतियो पर बनी कुछ फिल्में हैं। धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवां घोडा' पर श्याम बनेगल ने एक फिल्म बनाई। इस उपन्यास में छः छोटी-छोटी प्रेम कहानियाँ हैं जो अत में जाकर एक दूसरे के साथ जुड़ जाती हैं। साहित्यिक कृतियो पर सबसे अधिक फिल्म बनाने वाले सत्यजीत राय फिल्म निर्देशक वनने के पहले स्वयं लेखक थे। इन्होंने रवीन्द्र नाथ टैगोर की दो, मुंशी प्रेमचन्द की दो, विभूति भूषण वन्द्योपाध्याय की चार, ताराशंकर वन्द्योपाध्याय की दो और सुनील गांगुली की दो कहानियो पर फिल्मे बनाई। दस फिल्में तो स्वयं उन्होने अपनी ही कहानियो पर बनाया। इब्सन के नाटक 'द इनिमी ऑफ पिपुल' पर उन्होंने 'गणशत्रु' नामक फिल्म बनाया। विभूति भूषण वन्द्योपाध्याय के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'पथेर पांचाली' ने इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलायी। 'पथेर पांचाली' का अर्थ है 'पथ का गीत'। सत्यजीत राय ने सम्पूर्ण उपन्यास की कथा तीन फिल्मों में अंकित की है। उपन्यास का पहला भाग 'पथेर पांचाली' (1955) में है, दूसरा 'अपराजितो' (1955) और तीसरा 'अपूर संसार' (1959) फिल्म में रचा गया है। सत्यजीत राय की यह त्रयी विश्व सिनेमा की श्रेष्ठ उपलब्धियों मे है।

इसी प्रकार अच्छी कहानियों को फिल्मकारों ने फिल्मांकन के लिए सहर्ष स्वीकार किया। विमल मित्र ने कई अच्छी साहित्यिक कृतियो का कैमरे की भाषा मे अनुवाद किया है। सिनेमा के नवयथार्थवादी दौर मे विमल राय की एक महत्वपूर्ण देन, जो उनके विषय वस्तु के चुनाव से सम्बन्धित है, वह साहित्यिक रचनाओं का फिल्म स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जाना है। यद्यपि विमल राय के पहले भी साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बनी हैं किन्तु अपने समसामयिक फिल्मकारों में वे पहले फिल्मकार हैं जिन्होंने भारत के श्रेष्ठ कथाकारों की अनेक रचनाओं को फिल्म-भाषा में रूपांतरित किया। उन्होंने शरतचन्द्र के उपन्यासों पर आधारित 'परिणीता', 'बिराज बहू' तथा 'देवदास' फिल्में बनाईं। सुबोध घोष के उपन्यास पर 'सुजाता', जरासंध के उपन्यास पर 'बन्दिनी' तथा चन्द्रधर शर्मा

---

3. सिनेमा की संवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 35

गुलेरी की कहानी पर 'उसने कहा था' फिल्मो का निर्माण किया। विमल राय ने इन फिल्मो के निर्माण में साहित्यिक कृतियों की मूलभावना को सुरक्षित रखा है। साहित्यिक कृतियों की विषयवस्तु को सिनेमा की भाषा मे ढालते समय कुछ परिवर्तन अवश्य हुए है किन्तु उनकी साहित्यिक संवेदना को विनष्ट नहीं किया गया है।[4]

उल्लेखनीय है कि सिनेमा में नवयथार्थवादी दौर का प्रारम्भ इटली से हुआ। इस आन्दोलन ने सिनेमा के व्याकरण को नया रूप दिया जिसे सौन्दर्यशास्त्रीय आन्दोलन के रूप में जाना गया।[5] इटली में प्रारम्भ होने वाले इस नवयथार्थवाद पर श्रेष्ठ साहित्यिक कथाकारो का प्रभाव था। हेंमिग्वे (अमेरिका), आन्द्रे बाजां (फ्रांस), दॉसफेस्को (अमेरिका) इसके उदाहरण हैं। हिन्दी मे मोपॉसा की कहानी 'पापा साइमन' पर आधारित 'बाप बेटी' का निर्माण किया गया।[6]

शरतचन्द्र ने अपने उपन्यासों और कहानियां मे नारी पात्रों को अत्यधिक करुणा और मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। वे प्रेम और सौंदर्य की अप्रतिम रूप हैं। परिणामत: उनकी मानवीय प्रतिछवियाँ अधिक सम्मोहक और संवेदनशील है। विमल राय ने शरत् के नारी पात्रों की इन विशेषताओं को उनकी सच्चरित्रता तथा स्वाभाविकता के साथ उभारा है। नारी के प्रति समाज की निर्ममता, असमान व्यवहार और उनके शोषण को अत्यंत गहराई के साथ 'परिणीता', 'बिराजबहू' तथा 'देवदास' में प्रदर्शित किया है। इन कृतियों में नारी जीवन की करुणदशा को उन्होंने बड़ी कुशलता और प्रभावी ढंग से दर्शाया है। 'बिराज बहू' में यह सब देखा जा सकता है। समाज और व्यक्ति के बीच खोये हुए संतुलन की मर्मकथा और उसकी तलाश शरतचन्द्र के उपन्यासों का आधार बिन्दु है विमल राय ने उपन्यासों की थीम की इस सच्चाई को समझा है तथा उसे फिल्म मे उभारने की चेष्टा की है।[7]

साहित्य को पर्दे पर रूपांतरण करने में गुलजार की अद्वितीय भूमिका रही है। गुलजार ने कैमरे को कलम बना दिया है और उन्होंने इसका ऐसा इस्तेमाल किया कि उनकी फिल्में देखने पर कविता और कहानी पढ़ने का सा अंनुभव मिलता है। फिल्म निर्माता-निर्देशक के साथ-साथ वे स्वयं कवि और कथाकार भी हैं। इन्होंने कथानक के सूक्ष्म-से-सृक्ष्म पहलुओ पर प्रकाश डालकर उसे अपूर्व शक्ति

---

4 भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 20

5 भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 14

6 भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 20

7. भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 20

प्रदान की है। इसी प्रकार वासु भट्टाचार्य ने भी सशक्त कथानका पर फिल्मे बनाई हैं। ऐसे फिल्मकार की फिल्में कलम से भी ज्यादा ताकतवर सिद्ध होती हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं यथा बगाली मे शरत चन्द्र, विभृति भूषण वद्योपाध्याय, रवीन्द्र नाथ टैगोर, प्रमेन्द्र मित्र, समरेस वसु, विमल मित्र आदि की रचनाओं पर फिल्में बनी है। मराठी में भी साने गुरुजी, विस खांडेकर, अत्र, चिंवी जोशी, पुलदेशपाण्डे, खानोलकर की रचनाओ पर चित्रपट बने हैं। ऐसे ही गुजराती में गोवर्धनराय त्रिपाठी, भवेरचन्द मेघाणी के एम मुंशी, पन्ना लाल पटेल आदि का योगदान है। अन्य दक्षिण भारतीय भाषाओं की रचनाओ पर भी फिल्म निर्माण की समृद्ध परम्परा रही है। परन्तु हिन्दी में साहित्यकार फिल्म जगत के हासिए पर ही रहा है। सभव है इसका कारण हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में फिल्म निर्माण स्टूडियो का अभाव[8] एवं फिल्म निर्माण पर दक्षिण भारतीय भाषाओं के लोगों का वर्चस्व रहा हो। फिल्म निर्माण के व्यवसाय मे सभी भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही प्रमुख भाषा माध्यम बनी। इस रूप में फिल्म ने हिन्दी को अखिल भारतीय एवं राष्ट्रभाषा स्वरूप दिलाने मे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

हिन्दी के फिल्मकारों ने कहानी के चयन में देश-विदेश की संकीर्ण सीमा का उल्लंघन कर अच्छी-से-अच्छी कहानी लेने का प्रयास किया और उनके आधार पर अपनी फिल्में बनाई इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि यूरोपीय भाषाओ मे अंग्रेजी के कथाकारों की कहानियों पर आधारित कथावस्तु को ग्रहण करने में हमारे फिल्म निर्माताओं की सर्वाधिक रुचि रही है। महान् नाटककार विलियम शेक्सपियर के कुछ प्रख्यात नाटक रजतपट पर प्रस्तुत किए गए हैं। सन् 1931 में सवाक् चित्रपट के निर्माण के दो वर्ष पश्चात ही शेक्सपियर की प्रसिद्ध कामेडी 'कामेडी ऑफ एरर्स' की कहानी को 'भूलभुलैया' शीर्षक से रणजीत मूवीटोन नामक फिल्म कम्पनी ने फिल्माया। एक सी शक्ल-सूरत के दो मालिकों एवं दो नौकरों की यह हास्य प्रधान कहानी हिन्दी फिल्मो में एकाधिक बार फिल्मायी गयी है। 'भूलभुलैया' का निर्देशन जयंत देसाई ने किया है। आगे चलकर शेक्सपियर के इस कहानी पर 'हँसते रहना', 'दो दुनी चार' तथा 'अंगूर' शीर्षक देकर तीन अलग-अलग फिल्में बनीं। दर्शकों का मनोरंजन करने में इन फिल्मों ने कोई कसर छोड नहीं रखी थी। 'भूलभुलैया' तो सन् 1933 में बनीं। इससे पहले ही एक वर्ष पूर्व पारसी थियेटर कम्पनी 'मार्डन थियेटर' ने शेक्सपियर की एक अन्य कृति 'टेमिंग ऑफ दि श्रू' को रजत पट पर उतारा। जे.जे. मॉडन निर्देशित इस फिल्म का नाम था

---

8 भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 20

'हठीली दुल्हिन'। इसके बाद शेक्सपियर की महान् ट्रेजडी 'हेमलेट डेनमार्क का राजकुमार' को सन् 1935 में रुपहले पर्दे पर प्रस्तुत किया गया। पिता की मौत का बदला लेने के राजकुमार हेमलेट के द्वन्द्व को 'खून का खून' नाम से फिल्माया गया। सोहराब मोदी ने इस फिल्म का सफल निर्देशन किया था।

शेक्सपियर की अन्य सुप्रसिद्ध कृति 'टेम्पेस्ट' को 'न्यू-थियेटर्स' कलकत्ता ने 'आँधी' नामक से फिल्मांकन किया। इसके एक वर्ष बाद इनकी महान् कृति 'दि मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' को फिल्माया गया। शेक्सपियर ने इसका नाम वेनिस के भद्रव्यापारी ऐण्टोनियो के नाम पर रखा। किन्तु 'माडर्न थिएटर' नामक पारसी थिएटर कम्पनी ने इसका नाम इस कहानी के खलनायक यहूदी व्यापारी शरलॉक के कारण 'जालिम सौदागर' रखा। इस तरह फिल्मी दुनिया मे आकर्षण के लिए हिसा की प्रभुता के संवेदनात्मक दबाव को पारसी थिएटर कंपनियो के काल से ही देखा जा सकता है।

'रोमियो और जुलिएट' के प्रेमाख्यान को सन् 1947 मे निर्माता-निर्देशक अख्तर हुसैन ने फिल्माया। इसके गीतो के रचनाकार मजरुह सुल्तानपुरी, प्रसिद्ध शायर जिगर मुरादाबादी तथा प्रख्यात कवि फैज़ अहमद फैज़ थे। सर वाल्टर स्काट अंग्रेजी के प्रख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार थे, जिन्होने अपनी मातृभूमि स्काटलैण्ड के नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रति अनन्य प्रेम दिखलाते हुए मध्यकालीन सामंती पृष्ठभूमि पर अनेक उपन्यास लिखे हैं। इनके महत्वपूर्ण उपन्यास 'लेडी ऑफ दि लेक' पर मोहन पिक्चर्स ने 1942 में 'सरोवर की सुन्दरी' नामक फिल्म बनाया, जिसका निर्देशन ए.एम खान ने किया था। पुन: इसी निर्देशक महोदय ने 1960 में 'लेडी ऑफ दि लेक' के नाम से ही एक और फिल्मांकन किया। बीरेन बाग ने 1964 में दाफ्रे द मारियर की प्रसिद्ध कथाकृति 'रैबेका' को 'कोहरा' नाम से फिल्माया, जिसके गीत कैफ़ी आज़मी ने लिखे थे। 1965 मे सुप्रसिद्ध भारतीय लेखक आर के नारायण की अंग्रेजी कथाकृति 'गाइड' पर विजय आनन्द ने फिल्म बनाया। यह फिल्म भी खूब चली। किसी भारतीय लेखक की अंग्रेजी कथाकृति को शायद ही इतनी लोकप्रियता मिली हो जो 'गाइड' को मिली।[9]

मैक्सिम गोर्की की विश्वविख्यात रचना 'मदर' पर पुदोव्किन ने फिल्म बनाई थी जो सोवियत फिल्म के इतिहास की अविस्मरणीय एवं स्वर्णिम उपलब्धि है। 'मां' विश्व की श्रेष्ठ कृतियो में से एक है किन्तु उसके कथानक का फैलाव फिल्म निर्माण की दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। हालांकि गोर्की स्वयं इसके प्रति आशंकित थे, उनकी मान्यता थी कि 'आज के आदमी अपने दैनंदिन जीवन की साधारण घटना से विशेष उद्दीपन का अनुभव नहीं करते हैं। लेकिन वही साधारण घटना ही

---

9 स्वतंत्र चेतना, 13 फरवरी 99 के 'विदेशी साहित्य पर आधारित भारतीय फिल्मों का धमाका 'लेख से'

चलचित्र में एक घनीभूत नाटकीय रूप धारण कर आदमी के मन को आन्दोलित कर देती है। मुझे भय का एहसास होता है कि कहीं चलचित्र की यह दुनियॉ यथार्थ का अतिक्रमण कर मनुष्य के हृदय और मन पर अपना अधिकार न जमा लें।[10]

रचना के फिल्मांकन की सफलता

साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मो को दर्शक स्वीकार करेगा या नहीं, इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। ऐसा फिल्मों की सफलता संदिग्ध रहती है। पिछला इतिहास यही बताता है कि ऐसी अधिकांश फिल्मों को दर्शको ने अस्वीकार ही किया है। चाहे प्रेमचन्द जैसे रचनाकार के उपन्यास 'गोदान' अथवा कहानी 'मिल मजदूर' और 'शतरंज के खिलाड़ी' पर बनी फिल्म हो, या रेणु के उपन्यास पर बनी फिल्म 'तीसरी कसम' हो अथवा मुक्तिबोध की कहानी 'सतह से उठता हुआ आदमी' हो, सभी फिल्में असफल रही हैं। नौवे दशक में भी कुसुम अंसल के उपन्यास पर बनी फिल्म 'पंचवटी', उदय प्रकाश की कहानी पर बनी फिल्म 'उपरांत' तथा योगेश गुप्त के उपन्यास 'उनका फैसला' पर बनी फिल्म 'अंतहीन' नहीं चली।[11] दूसरे दौर में 'तीसरी कसम' चली भी तो गाने के कारण।

दूसरी ओर आर.के. नारायण के उपन्यास 'गाइड' पर बनी फिल्म अत्यंत सफल रही। शरतचन्द्र के 'देवदास' पर तो तीन फिल्में बनीं और तीनों सफल रहीं। सन् 1993 के अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में प्रदर्शित मादेम बावरी के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'माया मेमसाब' भी काफी चली, हालांकि इसके चलने का कारण इसकी कथावस्तु नहीं बल्कि उसके तथाकथित यथार्थवादी बोल्ड दृश्य रहे। महाश्वेता देवी की कहानी पर आधारित 'रुदाली' जनप्रिय सिद्ध हुई और चर्चित भी रही।[12]

कई बार लेखक अपनी ही कृतियों पर निर्मित फिल्म से संतुष्ट नहीं होते हैं और फिल्मकार पर यह आरोप लगाते हैं कि इन्होंने हमारी रचना की आत्मा ही मार दी, अर्थात् लेखक का मन्तव्य पूरी तरह

---

10. सिनेमा की संवेदना, डा० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 38

11. सिनेमा की संवेदना, डा० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 38

12 सिनेमा की संवेदना, डा० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 38

से बदला हुआ लगता है जो लेखक के लिए असह्य पीडादायक होता है। दूसरी ओर धर्मवीर भारती यदि 'सूरज का सातवां घोडा' के फिल्म रूप से सतुष्ट थे तो यह इस बात का प्रमाण है कि लेखक फिल्मकार एक दूसरे के पूरक भी हो सकते हैं।[13]

प्रसिद्ध जर्मन लेखक गुंथर ग्रास का एक वहुचर्चित उपन्यास है— 'द टिन ड्रम'। इस उपन्यास में एक ऐसे अनोखे आस्कर के माध्यम से कहानी कही गई है जो युद्ध की विभिषिका, समाज के पतन के विरुद्ध अपने विकास को स्वयं ही रोक लेता है। वह ड्रम बजाता है, तो उसकी आवाज से शीशे टूट जाते हैं। कहने का आशय यह है कि इस बौने की दृष्टि को सिनेमा के पर्दे पर लाना लगभग असंभव काम था। लेकिन जर्मन फिल्मकार श्लौंडोर्फ ने 1979 में इसी उपन्यास पर एक अविस्मरणीय फिल्म बनाई। स्वयं गुंथर ग्रास भी इस फिल्म को देखकर संतुष्ट थे। बौना आस्कर पर्दे पर आकर और भी असरदार ढंग से युद्ध और अमानवीयता के विरुद्ध अपना 'ड्रम' बजाता रहा। कान महोत्सव (फ्रांस) में इस फिल्म को सर्वश्रेष्ठ फिल्म भी माना गया।

पर्दे के लिए मुश्किल नजर आने वाली गुथर ग्रास की कृति का फिल्मांकन सफल रहा। लेकिन अक्सर अच्छे चर्चित और कालजयी उपन्यास पर्दे के लिए एक मुश्किल किस्म की चुनौती नजर आते हैं। नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक गाब्रिएल गार्सिया मार्केस का उपन्यास 'वन हैन्ड्रेड इयर्स ऑफ सॉलीच्यूड' दुनिया भर में चर्चित है। हालिवुड से शुरू होकर नामी निर्माताओं के प्रस्ताव मार्केस के पास आए कि हम इस उपन्यास पर फिल्म बनाना चाहते हैं, लेकिन मार्केस ने अनुमति नहीं दी। हो सकता है भविष्य में किसी समर्थ फिल्मकार को मार्केस अनुमति दे भी दें। उनकी एक अन्य चर्चित कृति 'क्रानिकल ऑफ ए डेथ फोरटोल्ड' पर इतालवी फिल्मकार फांचेस्को रोस्सी एक फिल्म बना भी चुके हैं जो अगर बहुत अच्छी नहीं थी, तो खराब भी नहीं थी।[14]

फिल्मांकन के उपयुक्त रचना

ऐसा नहीं है कि श्रेष्ठ साहित्य पर श्रेष्ठ फिल्में नहीं बनायी जा सकती हैं श्रेष्ठ साहित्य पर अच्छी फिल्में बन सकती हैं किन्तु सभी श्रेष्ठ साहित्य पर अच्छी फिल्में बनें यह आवश्यक भी नहीं है। इसलिए यह विचार करना आवश्यक है कि किस प्रकार का साहित्य फिल्म के अनुकूल होता है? फिल्म निर्माता-निर्देशक की साहित्य की समझ और साहित्य सर्जक व समीक्षक की समझ एक हो यह

---

13. समय और सिनेमा, विनादे भारद्वाज, पृष्ठ 33

14. समय और सिनेमा, विनादे भारद्वाज, पृष्ठ 34

आवश्यक भी नहीं है। अभी तक के अनुभवों से यह स्पष्ट है कि इन दोनों की समझ में मेल नहीं रहता है। गुलशन नन्दा के कई उपन्यासों पर फिल्मे बनीं और सफल रहीं। लेकिन प्राय: इन्हें साहित्यकार की कोटि में नहीं रखा जाता है और न ही इनकी रचनाएँ साहित्य के रूप मे मानी जाती हैं। फिल्म के लिए किसी भी कहानी का चयन करते समय तथा चयन के बाद उसका फिल्मांकन करते समय यह बात निर्माता-निर्देशक ध्यान रखते हैं कि कला की अन्य विधाओं की तरह फिल्म का निश्चित दर्शक वर्ग नहीं होता है बल्कि सिनेमा युवा-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सबका माध्यम है। दूसरे यह कि सबसे मँहगी कलात्मक विद्या होने के कारण किसी भी सर्जनात्मक प्रतिभावाले फिल्मकार के लिए यह संभव नहीं होगा कि वह लगातार ऐसी फिल्में बनाता रहे, जो बहुत घाटा दे रही हों। सिनेमा मूलत: फिल्म निर्देशक की विधा है, फिर भी यह एक 'सामूहिक विधा' है। इसे मूर्तरूप देने में संवाद लेखक, गीतकार, संगीत निर्देशक, छायाकार, यहा तक कि संपादक की भी अपनी भूमिकाएँ होती हैं, बावजूद इसके कि ये सभी निर्देशक की इच्छा के अनुकूल ही अपना-अपना काम करते हैं। केवल इतना ही नहीं बल्कि नायक-नायिका की अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी अभिनीत चरित्र पर अपना अप्रत्यक्ष प्रभाव डालती है।[15]

जो कहानी इस पैमाने पर सटीक बैठती है, उसे ही निर्माता निर्देशक फिल्म के लिए उठाता है। 'सूरज का सातवां घोड़ा' को बेनेगल ने फिल्म बनाने के लिए इसलिए लिया क्योंकि उसमें फिल्म के लिए उपयोगी दो प्रधान तत्व थे— पहला प्रेमकथा का होना और दूसरा अलग-अलग घटनाओं का एक-दूसरे से जुड़कर आश्चर्य मिश्रित संयोग की सृष्टि करना।[16] साहित्य को लेकर सत्यजीत राय ने सर्वाधिक फिल्में बनाई हैं लेकिन उनकी सभी फिल्मे साहित्य पर आधारित नहीं हैं। उन्होंने उस साहित्य को अपनी फिल्म के लिए प्राथमिकता दी, जिसमें डिटेल्स थे, ताकि साहित्यिक कृति की आत्मा को चित्रित किया जा सके और साहित्यकार तथा निर्देशक के संवेदनात्मक टकराव एवं विलगाव को कम-से-कम दूर रखा जा सके। पथेर पांचाली के विषय में उनका कहना था, 'पथेर पांचाली' का प्रमुख गुण था— उसकी सरलता। उसमें था मन का आवेग, काव्यमयता, यथार्थता, मानवता आदि जैसे गुणों का समावेश उस फिल्म में उन गुणों के समावेश होने के कारण ही उसने दर्शकों के मन में एक ऐसी छाप छोड़ दी जिसे मिटाया नहीं जा सकता।[17] किसी फिल्म का चलना और न चलना उसके

---

15. दृष्टव्य, सिनेमा की संवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 37

16. दृष्टव्य, सिनेमा की संवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 37

17 दृष्टव्य, सिनेमा की सवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 38

साहित्यिक कथानक पर निर्भर नहीं है। जैसे सामान्य फिल्मे पिट जाती हैं उसी तरह साहित्य आधारित फिल्में भी पिट सकती हैं। जो फिल्मे चलीं उनका मूल कारण रहा उन फिल्मो की कलात्मकता। जो फिल्में साहित्य पर आधारित थीं और जिनकी प्रस्तुति उस साहित्य के अनुकूल रही और उतना ही प्रभावोत्पादक रही उसका कारण था उस लेखक और फिल्मकार दोनों की सर्जनात्मक शक्ति और दोनों की आलोचनात्मक एवं संवेदनात्मक समझ का मतैक्य। फिल्मकार किसी रचना पर फिल्म बनाते समय उस रचना का पुनर्सृजन करता है। अब तक का यह अनुभव रहा है कि यदि साहित्यिक कथानक को थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ सिनेमाई अंदाज मे प्रस्तुत किया गया, तो फिल्म चली, अन्यथा वह असफल हो गई। स्वयं सत्यजीत राय ने भी यह स्वीकार किया है कि वे साहित्यिक कथानक को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करने के मोह में नहीं पड़ते। यह बहस का मुद्दा है कि किस सीमा तक परिवर्तन की अनुमति दी जा सकती है।[18] इस परिवर्तन में निर्देशक को स्वयं की कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। 'उपन्यास पर आधारित कोई ऐसा सार्थक चलचित्र आज तक नहीं निर्मित हुआ है, जिसमें निर्देशक को अपनी कल्पना का सहारा न लेना पड़ा हो।'[19]

साहित्यिक कथानकों पर फिल्म बनाने वालों पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि वे साहित्य को विकृत कर देते हैं। सत्यजीत राय ने अपने द्वारा बनाये गए फिल्म 'चारुलता' के संदर्भ में एक लेख में उपन्यास के मूल अंश तथा फिल्मो के संवाद को आमने-सामने रखकर इस आक्षेप का उत्तर दिया है।[20] इसी तरह 'साहब, बीबी और गुलाम' फिल्म में उसके लेखक विमल मित्र के आरोपों का उत्तर देते हुए निर्देशक गुरुदत्त ने कहा था कि कहानी लिखते समय लेखक के पास कहानी के विस्तार एवं उसकी अभिव्यक्ति की असीम संभावनाएं होती हैं लेकिन उस कहानी पर फिल्म बनाते समय उन सभी कल्पनाओं को दृश्य देना पड़ता है, इसके दृश्यांकन में गति एवं समन्वय बनाये रखने के लिए थोड़ा हेर-फेर आवश्यक हो जाता है।[21] यह परिवर्तन मात्र प्राविधिक मजबूरियों के कारण ही नहीं करना पड़ता अपितु इसके पीछे दर्शकों की मनोवृत्ति भी होती है। इसे स्पष्ट करते हुए सत्यजीत राय ने कहा था, कि 'दर्शक सुघड़ प्लाट, संवलित कहानी चाहते है.. . दर्शक नाटकीय घात-प्रतिघात चाहते

---

18 सिनेमा की संवेदना, पृष्ठ 39

19 'चलचित्र : कल और आज'—सत्यजीत राय (सिनेमा की सवेदना, पृष्ठ 125 से उद्धृत)

20. 'चलचित्र : कल और आज'—सत्यजीत राय (सिनेमा की संवेदना, पृष्ठ 125 से उद्धृत)

21. श्री श्रीष मित्र , फिल्म समीक्षक, जनसत्ता से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य, 'संचार माध्यम बनाम साहित्य' : योगेन्द्र प्रताप सिंह

हैं, सुन्दर नायक-नायिका चाहते हैं, मनोरम बहिर्दृश्यावली चाहते हैं, तडक-भडकदार परिवेश चाहते हैं। साथ ही साथ विभिन्न रसों का एक उपभोग समन्वय चाहते हैं, जिससे सर्वांत में उनका मन परिपूर्ण हो उठे।[22]

साहित्य एवं समानान्तर सिनेमा

दर्शक की माँगों के दबाव में फिल्म की दो धाराओ का विकास हुआ। एक धारा फिल्म के विकसित कुछ फार्मूलों से इसका समाधान प्रस्तुत करती है तो दूसरी धारा इस व्यावसायिक धारा की प्रतिक्रिया स्वरूप कला का आदर्श प्रस्तुत करती है। कलात्मक फिल्मों की इस धारा का विकास बॉक्स ऑफिस फार्मूले की प्रतिक्रिया में हुआ। 1969 मे मृणालसेन की फिल्म 'भुवन सोम' से हिन्दी कला फिल्म का जन्म माना जाता है।[23] फिल्म समीक्षकों ने इस धारा को नया सिनेमा, कला सिनेमा, सार्थक सिनेमा तथा समानान्तर सिनेमा आदि नाम दिया। पाँचवे दशक में फिल्म की कथा वस्तु में नवयथार्थवाद के समावेश के कारण विमल राय की 'दो बीघा जमीन', राजकपूर की 'बूट पालिश' और 'जागते रहो', सत्यजीत राय की 'पाथेर पांचाली' और शांताराम की 'दो आखें बारह हाथ' आदि फिल्में बनीं, जिन्हें विश्वभर में ख्याति प्राप्त हुई। नवयथार्थवाद का प्रारम्भ इटली से माना जाता है तथा यथार्थवादी फिल्मों की प्रेरणास्रोत साहित्यिक कृतियाँ ही रही है। भारत मे कला सिनेमा की वास्तविक शुरुआत विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय के उपन्यास 'पाथेर पांचाली' पर फिल्म बनाकर सत्यजीत राय ने किया।[24] इस प्रकार कला सिनेमा का आरम्भ भी प्रख्यात उपन्यास के फिल्मांकन से होता है।

नए-नए प्रयोगधर्मी निर्देशकों ने इस धारा मे इस माध्यम को कला की दृष्टि से काफी सजाया-सवाँरा। कुमार शाहानी (माया दर्पण, 1972), मणिकौल (उसकी रोटी, 1970), श्याम बेनेगल (निशांत, 1975 तथा कलियुग, 1981) गोविन्द निहलानी (अर्द्धसत्य, 1983), सागर सरहदी (बाजार, 1983), मृणालसेन, खण्डहर, 1983), सैयद मिर्जा (अल्बर्ट पिन्टो को गुस्सा क्यों आता है, 1984), मोहन जोशी (हाजिर हो, 1984), केतन आनन्द (शर्त, 1985), रमेश शर्मा (न्यू दिल्ली टाइम्स, 1985), महेश भट्ट ('जन्म' और 'सारांश', 1985) आदि निर्देशकों ने न केवल इन फिल्मों में नए-नए विम्बों

---

22 चलचित्र : कल और आज - सत्यजीत राय (सिनेमा की सवेदना, पृष्ठ 124 से उद्धृत)

23. 'दि मारेल' हिन्दी साप्ताहिक के 'सार्थक सिनेमा का गुलशन क्यों उजड़ा'- लेख से 20 अक्टूबर 2 नवम्बर 1998

24. दि मारेल, हिन्दी साप्ताहिक (20 अक्टूबर - 2 नव.) के फिल्म विषयक लेख

एवं प्रतीकों का प्रयोग कर उन्हें कला के क्षेत्र में श्रेष्ठ कृति के रूप मे स्थापित किया[25] अपितु फिल्मी दुनियाँ का यह भ्रम भी तोड़ा कि फार्मूले बाजी से अलग हटकर अच्छे कथानकों पर फिल्में नहीं बन सकती हैं। इस दौर में मणिकौल ने मोहन राकेश की कहानी पर आधारित 'उसकी रोटी' (1970) तथा विजयदान देथा की कहानी पर आधारित फिल्म 'दुविधा' (1979) का निर्माण किया। कुमार शाहानी ने निर्मल वर्मा की कहानी का फिल्म रूपांतरण 'मायादर्पण' (1972) नाम से किया। इसके पहले बासु चटर्जी राजेन्द्र यादव के उपन्यास पर 'सारा आकाश' (1969) बना चुके थे। उन्होंने मन्नू भंडारी की कहानी "यही सच है" 'रजनी गंधा' नाम से 1974 मे फिल्म बनाया जिसे बहुत अधिक लोकप्रियता मिली। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' पर मणिकौल ने 1972 में फिल्म बनाई है। प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कृति 'कफन' पर तेलगू में 1977 मे फिल्म बनी। रमेश बक्षी के उपन्यास पर आधारित फिल्म '27-डाउन' को 1973 में अवतार कौल ने बनाया। राजेन्द्र सिंह बेदी की कहानी पर एम.एस. सैक्यू ने 'गरम हवा' (1973) का फिल्मांकन किया। कमलेश्वर की कहानी पर शिवेन्द्र सिन्हा ने 'फिर भी' (1971) नामक फिल्म बनाया। शिवराम कारंत के उपन्यास पर बी.बी कारंत ने 'चौमन दुडी' (1975) बनाया। इसी प्रकार यू.आर. अनन्तमूर्ति की कथा पर बनी फिल्म 'घटश्राद्ध' (1977) का निर्देशन गिरीश कासरवल्ली ने किया।

सातवें दशक में इन फिल्मों का जबर्दस्त दौर था लेकिन अगले दशक के साथ ही इनकी आभा धूमिल हो गई और हिन्दी कला फिल्मों की अकाल मृत्यु की घोषणा हो गई। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि अपने कथा वस्तु के चयन तथा उसके प्रस्तुतिकरण में बेहद प्रयोगवादी एवं बोझिल शैली का प्रयोग किया गया जिससे ये फिल्में उन लोगों से सीधे संवाद स्थापित नहीं कर सकीं जो इनके मुख्य दर्शक वर्ग थे। 'खंडहर', 'सतह से उठता हुआ आदमी' तथा 'एक डाक्टर की मौत' जैसी फिल्मों की संप्रेषणीयता तब तक पूर्ण नहीं हो पाती, जब तक कि समीक्षक नाम का मध्यस्थ उसकी व्याख्या न करे।[26] ये फिल्में यह पूर्वापेक्षा पालकर चलती हैं कि तर्कपरायण दर्शक ही इन्हें देखेंगे, भावुक नहीं। जबकि हिन्दी फिल्मों के दर्शकों की संवेदना न तो अभी इतनी रूक्ष हुई, और न ही उसकी चेतना का स्तर इतना उच्च हुआ है कि वह ऐसा कर सके। इसलिए हुआ यह कि ऐसी फिल्मों के साथ आम दर्शक न तो भावना के स्तर पर तादात्म्य स्थापित कर सका और न ही उसे चेतना के स्तर पर ग्रहण कर

---

25. जनसंचार : राधेश्याम शर्मा - लेख 'जनसंचार : तकनीक और शैलियां' - सोहन लाल शर्मा

26 द्रष्टव्य, सिनेमा की सवेंदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 14

सका।[27] फलत: ऐसी फिल्में मास मीडिया के वजाय क्लास मीडिया के रूप में बदल गईं और संभ्रांत वर्ग के सीमित दायरे में ही आकर सिमट गईं, जबकि फीचर फिल्मे सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति लाने में महती भूमिका का निर्वाह कर सकती हैं क्योंकि दृश्य माध्यम होने का कारण ये सच्चे अर्थों में जन माध्यम होती हैं।

साहित्य एवं व्यावसायिक सिनेमा : कथानक

कलात्मक फिल्मों की गति धीमी थी, और अंत प्रश्नवाचक था। फिल्म जगत् ने इस कमी को पहचाना तथा इसे दूर करने के लिए 'तीव्रता और सुखान्त' की नीति को अपनाया। फलस्वरूप 'हिंसा' जैसे तथ्य की तलाश की गई, क्योंकि इसके द्वारा फिल्म के कथानक की गति को तीव्र किया जा सकता था तथा उसके दर्शक मे रोमांच भी पैदा किया जा सकता था। इसी हिंसा के माध्यम से फिल्म के अंत को भी आसानी से सुखांत बनाया जा सकता था।[28] सन् 1948 में फिल्मी संसार में एक युगान्तकारी घटना घटी। दक्षिण भारत के एस.एस. वासन ने चन्द्रलेखा फिल्म बनाई जिसमे आलीशान सेटों और एक भव्य ढोलक नृत्य का आयोजन किया गया। यहाँ से ही बाक्स-आफिस-फार्मूला फिल्मों के निर्माण की शुरूआत हो गई। कालान्तर में बडे बजट और एक से अधिक बड़े-बड़े सितारो वाली अन्य फिल्में बनने लगीं जो प्रक्रिया अभी भी जारी है।[29] बाक्स आफिस फार्मूले के रूप मे फिल्म जगत् ने सेक्स और हिंसा की आवश्यक बुराई को स्वीकार कर लिया। सिनेमा अपने जन्मकाल से मनोरंजन के एकमात्र उद्देश्य से प्रारम्भ हुआ तो फिर उससे कभी मुक्त न हो सका। फलत: दर्शक उससे किसी प्रकार की गंभीरता से सरोकार न बना सका। आज कोई प्रबुद्ध दर्शक भी फिल्म देखने जाता है तो मात्र मनोरंजन के लिए। उपरोक्त सभी परिस्थितियों का दुष्परिणाम यह हुआ कि फिल्मों के कथानकों में नवीनता एवं वैविध्यता के बजाय कथानक की एक सपाटता रूढ़ हो गई। अस्सी वर्षों के पूरा करने के बावजूद कथानक की दृष्टि से हिन्दी फिल्म अभी मेच्योर नहीं हो पायी है। आज भी अश्रुगलित रुग्ण भावुकता वाले प्रेमपरक कथानक ही फिल्मों के केन्द्र में है। हालांकि कुछ प्रतिबद्ध फिल्मकारों ने कथानक में वैविध्यता लाने की कोशिश की, लेकिन दुर्भाग्यवश वे फिल्में मुख्य धारा की फिल्में नहीं बन पायीं। एक ऐसे समय में, जबकि यूरोपीय और लैटीन सिनेमा ही नहीं, बल्कि कुछ एशियाई सिनेमा

---

27. द्रष्टव्य, सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 14
28. सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 14
29. जनसंचार, राधेश्याम शर्मा, पृष्ठ 114

की भी मुख्यधारा समाज के गंभीर सरोकारो को अभिव्यक्त कर रही है, हिन्दी सिनेमा 'ये जिन्दगी उसी की है, जो किसी का हो गया', के भाव जगत् से मुक्त नहीं हो सका। नतीजा यह हुआ कि उसकी दृष्टि जीवन के अन्य क्षेत्रों पर वहुत कम पड़ी तथा प्रेमकथाएं ही घुमा-फिराकर फिल्माई गईं। आखिर प्रेम कथानकों की भी एक सीमा तो है ही। पहले मेच्योर प्रेम को प्रस्तुत किया गया, बाद में 'बाबी' से 'अल्हड़' प्रेम का दौर चला। फिर कॉलेज का प्रेम आया, और अव आया 'डर' का प्रेम। ऐसे कथानकों में और भले ही कई बातें बदल गईं हों, लेकिन प्रेम ज्यों का त्यो बना हुआ है।[30] इस स्थिति में पटकथा लेखक प्रेम त्रिकोण को कितने रूपों में लिख सकता है?

इस प्रेम का चित्रण जितने तरीके से होना चाहिए था, करीव-करीब हो चुका है। निश्चित रूप से यह कथावस्तु अब दर्शकों के लिए रूढ़ हो गई है। कथा की संरचना अब दर्शको के लिए इतनी जानी-पहचानी हो गई है कि फिल्म खत्म होने से पहले ही उनके लिए खत्म हो चुकी होती है। उन्हें पहले से ही यह मालूम हो जाता है कि अब आगे क्या होगा। चाहे लाख मुसीबत आए प्रेमी-प्रेमिका मिलेंगे ही, यह उनकी धारणा बन चुकी है। 'नायक एक 'अतिमानव' है, वह किसी भी विकट परिस्थिति में विजयी होकर ही निकलेगा', की पूर्व निर्धारित धारणा अब दर्शकों को नायक की संवेदना के साथ जोड़ने में अक्षम सिद्ध हो रही है।..... अब छोटे-छोटे बच्चो मे भी यह 'सेंस'' आ गया है कि फिल्म में आगे क्या होने वाला है। यह सचमुच एक आश्चर्यजनक, किन्तु फिल्मकारों के लिए दुःखद एवं शर्मनाक बात है।

कथानक से ही जुड़ा हुआ तथ्य है– फिल्म दृश्यो की स्थितियाँ। कथानक में ऐसी असंभव स्थितियों एवं संयोगों की संरचना की जाती है जो दर्शको को अपने साथ बहाकर ले जा सके। चूंकि कथानक का अंत सुखमय ही होना है, और कथानक जटिल होता है, इसलिए उसे सुलझाने के लिए 'अविश्वसनीय संयोगों की सृष्टि करनी पड़ती है। इन संयोगों की भी अखिर एक सीमा तो होती ही है। फलतः एक ही जैसे संयोग, और एक ही जैसी स्थितियों की इतनी अधिक आवृत्तियाँ की गई हैं कि दर्शकों के लिए वे संयोग जाने-पहचाने से हो गए हैं। उन्हें मालूम है कि फिल्म के अंत में नायक कितने भी दुश्मनों से घिरा हुआ हो, वह अकेले निपट लेगा तथा उसके निपटने के बाद ही पुलिस आएगी। .... मरणासन्न व्यक्ति की बात जैसे ही पूरी होगी उसकी गरदन लुढ़क जायेगी।[31] ये

---

30 सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 15

31. सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 16

परिस्थितियाँ फिल्म के कथानक की एक सीमा बनाती चलती हैं। उपरोक्त विवेचन का आशय यह है कि व्यावसायिक तौर पर सिनेमा का लेखन मांग एवं पूर्ति पर आधारित हो जाता है। जहां उपरोक्त बन्धनों एवं शर्तों के अनुसार पटकथा लिखनी होती है। इस प्रकार के लेखन में लेखक की संवेदना एव सर्जनात्मकता चुक जाती है फलत: यह लेखन सर्जनात्मक कोटि के साहित्यिक स्तर से वंचित रह जाता है। इस प्रकार की कथावस्तु पर आधारित फिल्म सस्ते नावेल के श्रेणी में आ खडा होता है। वैसे भी सिनेमा मे कथानकों का महत्व अब कम हो गया है।

फिल्म जगत् में लेखनकर्म

फिल्म में लेखन की विभिन्न विधाएँ हैं। पटकथा, गीत एवं संवाद आदि को लिखने वाले फिल्म में विभिन्न लोग हैं। इन विभिन्न विधाओं के लेखन को उत्कर्ष तक पहुंचाने में विभिन्न साहित्यकारों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। किन्तु आज के फिल्मो के असाहित्यिक, अपसांस्कृतिक स्थितियों को देखकर यह विवेचन आवश्यक हो जाता है कि किन परिस्थितियो, सीमाओं और बाधाओं में फिल्म जगत का वर्तमान लेखन चल रहा है।

फिल्म जगत के लिए यह विडम्बना ही है कि यहाँ सब कुछ ग्लैमर पर चलता है। यहाँ तक कि फिल्म के लिए लेखन भी ग्लैमर की वस्तु है। संवाद लेखक आनन्द रोमानी के शब्दों में यहाँ सिर्फ वर्तमान को देखा जाता है, अतीत से किसी का कोई लेना-देना नहीं है, आपने क्या लिखा, कितना लिखा, यह कोई नहीं देखता। फिल्म यदि हिट हो गई तो भीड़ लग जायेगी अन्यथा कोई नहीं पूछता। पहले फिल्म बनाने के लिए कहानी तलाशी जाती थी अब स्टार तलाशे जाते हैं।[32] सम्प्रति फिल्म का केन्द्र बिन्दु स्टार होता है। इसके पीछे स्टार की अभिनय-क्षमता के अतिरिक्त हिट हो जाना मुख्य होता है। स्टार को ध्यान में रखकर कहानी तलाशी जाती है अथवा फिल्मी फार्मूले के तहत कहानी गढ़ ली जाती है। दूसरी बात यह है कि किसी फिल्म के हिट होने पर उसके नायक की एक निश्चित छवि बन जाती है। अन्य फिल्मों के लिए काम लेते समय पूर्व अभिनय की छवि ही सबके दिमाग में होती है। इससे अगली कहानी पर बनी फिल्म के साधारणीकरण में अवरोध उत्पन्न होता है। अपनी ही छवि को न तोड़ पाने का एक अन्य कारण नायक की सीमित अभिनय क्षमता का होना है। इस दौर में कम उम्र के नायक-नायिका को विशेषकर इनकी भौतिक सुन्दरता को ध्यान में रखकर ही चयन होता है। अभिनेता के मँजे हुए न होने पर भी वे अपने आपको दुहराते हैं और उनकी किसी विशेष किरदार की

---

32 दैनिक जागरण, 12 अप्रैल 1998, 'रचना और रचनाकार' स्तंभ से

छवि नहीं टूट पाती है। यह भारतीय सिनेमा के लिए कथावस्तु की दृष्टि से दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि आज उसमें वैविध्यपूर्ण कहानी के फिल्मांकन की संभावना कम होती जा रही है। निर्देशक रामगोपाल वर्मा असमंजस में हैं कि वे मेगास्टार अमिताभ बच्चन को अपनी फिल्म मे क्या चरित्र दें? उनकी जो प्रचलित इमेज है वह दें अथवा उनकी आयु के अनुसार। इसी प्रकार अलग-अलग विषयों पर फिल्म बनाने वाले टूटू शर्मा ने अपनी फिल्म में काम करने हेतु जब गोविन्दा से साइन कराया तो किसी ने उस फिल्म की कहानी के बारे मे पूछने पर बताया कि 'मेरी फिल्म मे कहानी नहीं गोविन्दा है।'[33] ऐसे अनगिनत उदाहरण है जो आज के फिल्म जगत् की साहित्य विरोधी स्थितियो को इंगित करते हैं। फीचर फिल्म की सबसे बड़ी विडम्बना है कि वह तीन घण्टे की अवधि बाँध कर चलती हैं, इससे कहानी का अनावश्यक विस्तार अथवा संक्षिप्तीकरण कर दिया जाता है। साहित्य के लिए बाधा के रूप में फिल्म में ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं।

फिल्म एक संश्लिष्ट विधा है, जिसमे अनगिनत कलाकारो के सहयोग से कला सृजित होती है। गीत, कथानक एवं संवाद की महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद फिल्म में लेखक का काम दोयम दर्जे का माना जाता है। फिल्म के अन्य उपादानों पर व्यय की अपेक्षा लेखक को बहुत कम पारिश्रमिक मिलता है। उदाहरणस्वरूप सन् 1940 में बनी फिल्म रतन के लिए नौशाद ने गीत व संगीत दिया। अपने दिलकश गीतों और संगीत के कारण यह फिल्म इतनी अधिक सफल रही थी कि इसके वितरकों को करीब एक करोड़ रुपये का लाभ मिला था। जबकि उसको संगीत देने के लिए नौशाद को केवल आठ हजार रुपये मिले थे।[34] हालांकि अन्य लेखन की अपेक्षा फिल्म-लेखन में अपेक्षाकृत ज्यादा पैसा है किन्तु वहाँ का लेखन मूलतः फिल्म जगत् की शर्तों पर है। इसी के साथ फिल्म जगत् के लेखन को लेखक समुदाय में भी दोयम दर्जे का काम माना जाता है। फिल्म और टेलीविजन में ज्यादा पैसा है इसलिए यह भी मान लिया जाता है कि लेखक बिक गया।[35] हिन्दी के अनेक लेखक इन माध्यमों से जुड़ने की आलोचना जरूर करते हैं लेकिन प्रायः यह भी देखा जाता है कि आलोचना करने वाले ये लेखक फिल्म या टेलीविजन विधा के ढाँचे, उसकी जरूरतों, उसकी दिक्कतों को जानते ही नहीं हैं।

---

33. दृष्टव्य हिन्दुस्तान, 13 फरवरी 'रंगोली' के पृष्ठ से
34. सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 128
35. समय और सिनेमा, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 32

बहुत से लेखक फिल्म और टेलीविजन के ग्लैमर, लोकप्रियता, दबावों आदि से घबराते है। इस तरह के दबाव में काम करना उनके वश की बात नहीं होती है। इन लेखको का संकोच तो समझ में आता है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि जो लेखक इन विधाओं से जुडे उनकी आलोचना ही की जाए। लेखक खराब लिखे तो उसकी आलोचना उसी तरह होना चाहिए जैसे एक खराब रचना की होती है। लेकिन फिल्म और टेलीविजन का अपना ढाँचा और अपनी शर्तें हैं। उन्हें ध्यान मे रखकर ही रचनाकार की सफलता-असफलता को मापा जाना चाहिए।[36]

फिल्म एवम् साहित्य : संवेदनात्मक अभिव्यक्ति

एक अत्यंत संवेदनशील कलात्मक विधा होने के बावजूद फिल्म की लागत ने इसे एक वस्तु में बदल दिया है जबकि कला के अन्य रूप इससे कुछ बचे हुए है। इसलिए फिल्म की सफलता-असफलता के प्रसंग में सामाजिक संदर्भ के सोद्देश्यता की बजाय बाक्स आफिस पर बटोरे गए धन की चर्चा होती है। इस बात का महत्व नहीं के बराबर रह जाता है कि उस फिल्म की संवेदना, संदेश एवं कला क्या है। इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि फिल्म की सफलता का फिल्मकार अथवा फिल्म की संवेदना और कलात्मकता से कोई लेना-देना नहीं है। यह बात तो है ही कि अंततः फिल्म दर्शकों के लिए बनाई जाती है। और यदि वे ही उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं, तो फिर बनाने की उपयोगिता क्या है? 'स्वान्तः सुखाय' के लिए साहित्य तो रचा जा सकता है, लेकिन फिल्म बनाने वाले इक्के-दुक्के मिलेंगे। इसलिए फिल्मों में लोकप्रिय तत्वों का, जिसे फार्मूला कहा जाता है, इतनी अधिकता और प्रबलता होती है। यहाँ तक कि प्रतिबद्ध फिल्मकार के लिए भी इस फार्मूले से बच पाना आसान नहीं होता। अंतर केवल मात्रा का रह जाता है।[37] यह अंतर जितना ही अधिक होगा फिल्म साहित्यिक संस्कारों से उतनी ही दूर होगी।

साहित्य संवदेनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति जितनी ही प्रबल होगी और संवेदना जितनी ही प्रगल्भ होगी वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ होगा। इसी प्रकार अच्छी फिल्मों की महत्वपूर्ण बात होती है संवेदना। संवेदना फिल्म को ऊँचाई देती है। संवेदनात्मक अभिव्यक्ति ही सस्ते

---

36. समय और सिनेमा, विनोद भारद्वाज, पृष्ठ 33

37. सनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 22

साहित्य और श्रेष्ठ साहित्य तथा व्यावसायिक फिल्मे और अच्छी फिल्मो के पार्थक्य को निर्धारित करती हैं।

फिल्म का समीक्षा लेखन

कला विकसनशील होती है तथा विकास के साथ जटिल होती जाती है। कला अपने प्रारंभिक चरण में सहज सम्प्रेषणीय होती है लेकिन प्रयोगशीलता के बढते जाने से कला का सम्प्रेषण पक्ष दुरूह होने लगता है। विकास की इस यात्रा मे कला का जनसस्कृति (मासकल्चर) से वर्गसंस्कृति (क्रास कल्चर) में रूपांतरण होने लगता है। क्लास कल्चर की कृतियाँ अपने भावक से उसके ज्ञान के निश्चित स्तर या प्रशिक्षण की पूर्वापेक्षा रखती है। इस कला की समीक्षा उसके इसी माँग को पूरा करती है। हालांकि कला के विकास के प्रत्येक सोपान पर समीक्षा उस कला की आईना होती है जो उस कला को संवरने का अवसर प्रदान करती है अर्थात् समीक्षा कला के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। समीक्षा किसी कला विशेष पर प्रकाश डालकर उसे आलोकित करती है। उस कृति के सृजन की तुलना में उसकी समीक्षा उतनी ही सर्जनात्मक भी होती है। किन्तु दुर्भाग्य से फिल्म समीक्षको ने स्वस्थ्य फिल्म संस्कृति के निर्माण के लिए ईमानदारी से प्रयास नहीं किया। इसके लिए मेरी सम्मति में फिल्म निर्माण से जुड़े लोग उतने दोषी नहीं हैं जितने फिल्म लेखक एवं समीक्षा। फिल्म समीक्षा के नाम पर आज जो कुछ हो रहा है वह अत्यंत विडम्बनापूर्ण है। फिल्म समीक्षा उस फिल्म की कहानी का सार-संक्षेप एवं अभिनेता-अभिनेत्रियों के सम्बन्धों के चुलवुले प्रसंगों की पर्याय हो चुकी है। अधिकांश फिल्म समीक्षक फिल्म लेखन को अपनी रचनाधर्मिता का सह उत्पाद मानते हैं।[38] फिल्म पर लेखन आसान माना जा रहा है, फिल्म की कहानी ही फिल्म की समीक्षा बन गई है। हर औसत व्यक्ति फिल्म देखता है, इसलिए वह समझता है कि फिल्म पर भी कुछ-न-कुछ तो लिख ही लेगा। इसलिए उसके लेखन को अभी तक सबसे आसान लेखन माना जा रहा है। समीक्षकों की यह नई पीढ़ी 'विशेषज्ञता' के आतंक से इस कदर आतंकित है कि उसके लिए फिल्म की कहानी ही फिल्म की समीक्षा बन गई है। उसके पास न तो समाजशास्त्र का ज्ञान है, न कला की अन्य विधाओं की समझ और न ही इतिहास और सांस्कृतिक बोध ही है। इसलिए सिनेमा का लेखन केवल सिनेमा के लिए लेखन बनकर रह गया है। इस लेखन में ऐसा कोई प्रयास नहीं दिखाई पड़ता जो दर्शकों में सिनेमा की सही समझ विकसित कर सके, एक स्वस्थ सिनेमाई संस्कृति का विकास कर सके और सिनेमा जगत् पर एक अप्रत्यक्ष

---

38. सिनेमा की संवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, 104

बौद्धिक दबाव डालकर उसकी दिशा को एक सकारात्मक मोंड दे सके।[39] सिनेमा की समीक्षात्मक पहल में पत्रकारिता का दृष्टिकोण भी बहुत रचनात्मक नहीं कहा जा सकता। फिल्म से सम्बन्धित पत्रिकाएँ फिल्म के अंन्तर्वस्तु की समीक्षा के बजाय सिने जगत् की भावात्मक हलचलों को मिर्च मसाले के साथ प्रस्तुत करती हैं। लोगों की जनरुचि बिगाडने मे इन पत्रिकाओं की अहम् भूमिका है। पत्रकारिता जगत में गंभीर पैठ रखने वाला समाचार पत्र भी पृष्ठ के अधिकांश भाग को कामोद्दीपन करने वाले अर्द्धनग्न तस्वीरों को छापने में अपने कर्त्तव्यो की इतिश्री समझते हैं और अफवाहों को ही फिल्मी पत्रकारिता के कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करते है। उसका एक अन्य पक्ष यह भी है कि अच्छी फिल्म पत्रकारिता का विकास अच्छी फिल्मों से जुडा है। जब अच्छी फिल्में ही नहीं है तो अच्छी फिल्म पत्रकारिता कैसे जन्म लेगी।[40] किसी भी भाषा में किसी विषय से जुड़ी पत्रकारिता या समीक्षात्मक लेखन तभी आगे आ सकता है, जब साहित्य और भाषा से जुडे लोग उसमे दिलचस्पी दिखाएं तथा उस विषय के तकनीक पक्ष और तंत्र से निकट सम्बन्ध बनाने का माहौल हो। हिन्दी में इन बातों की कमी रही है।[41] हिन्दी में अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा सर्वाधिक फिल्में बनती हैं। किन्तु दुर्भाग्य से हिन्दी फिल्में मूल हिन्दी भाषी क्षेत्र से दूर तथा प्राय: कामचलाऊ और गैर हिन्दी भाषी लोगों द्वारा ही बनाई जाती रही हैं। ऐसे फिल्मकारों को हिन्दी भाषी क्षेत्र की परिवेश की अनुभूति कम रही है। इस कारण भी मराठी, बंगाली और अन्य भारतीय भाषाओ की फिल्मों की तरह हिन्दी फिल्में उतनी उत्कृष्ट नहीं हैं। इस दूरी के कारण हिन्दी भाषी क्षेत्र के लेखकों से फिल्म संस्कृति का सम्बन्ध भी कम रहा है। दूसरी बात यह है कि एक लम्बे समय तक हिन्दी साहित्यकार फिल्म को दूसरे दर्जे की विधा के रूप में देखते रहे। फिल्म से उनका सम्बन्ध रहा भी तो व्यावसायिक किस्म का।[42] व्यावसायिकता से गंभीर उत्तरदायित्वों की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसके लिए पहल साहित्य कर्मियों की तरफ से ही करनी होगी, आशंकाओं और पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर। यदि फिल्म पत्रकारिता के इस तर्क को यदि मान भी लिया जाए कि अच्छी फिल्में नहीं बन रही हैं इसलिए अच्छी समीक्षा कैसे हो। तो इस विषय में पत्र-पत्रिकाएं देश मे ही क्यों विदेश की अच्छी फिल्मो पर सार्थक चर्चा कर सकती हैं। .. मगर सम्पादकों की दिलचस्पी नहीं है। तर्क दिया जाता है कि यूरोपीय या विश्व सिनेमा की जानकारी से

---

39. सिनेमा की सवेंदना, डा॰ विजय अग्रवाल, 107

40. नया सिनेमा, विनोद भारद्वाज, पृष्ठ 19

41. नया सिनेमा, विनोद भारद्वाज, पृष्ठ 20

42. नया सिनेमा, विनोद भारद्वाज, पृष्ठ 20

क्या लाभ है? या फिर उन फिल्म पर विस्तार से क्यों लिखा जाए जिन्हें लोग देख ही नहीं पाते। ऊपर से ये तर्क बहुत आकर्षक नजर आते हैं। मगर इस बात पर ध्यान नही दिया जाता कि बेहतर सिनेमा के प्रति जनमानस बनाने के लिए इस तरह की सामग्री की कितनी उपयोगिता है[43] और साथ ही इस सत्य को भी झुठला दिया जाता है कि फिल्म के दर्शको से ज्यादा इसकी समीक्षाओं और खबरों के पाठक हैं। अच्छी समीक्षा उस कृति से ज्यादे जरूरी है। जिस तरह से अच्छी किताब की विस्तृत और विश्लेषणात्मक समीक्षा किताब के उपलब्ध न होते हुए भी किताब में उठाए गये सवालों और बातों से हमारा सार्थक परिचय कराती है, उसी तरह से किसी क्लासिक फिल्म की विस्तृत समीक्षा फिल्म तकनीक से लेकर फिल्म से जुड़ी कल्पनाशक्ति के अद्‌भुत विकास और सम्भावनाओं की हमें गहरी जानकारी दे सकती है। मूल की महिमा तो है ही मगर उस तक सीधे पहुँचना भी जरूरी नहीं है।[44]

फिल्म जगत् का अर्थशास्त्र 'लागत' और 'लाभ' का अर्थशास्त्र है। एक निर्माता के लिए फिल्म एक वस्तु है, जिसके उत्पादन में वह निवेश करता है। इस वस्तु के विक्रय का एक महत्वपूर्ण आधार होता है उसका विज्ञापन। इस विज्ञापन के कई तरीके हैं, मसलन, पोस्टर, होर्डिंग, गीत आदि। दुर्भाग्यवश फिल्म समीक्षाएं भी इसी श्रेणी में आती जा रही हैं। फिल्मकारों के अपने-अपने निजी जनसम्पर्क अधिकारी होते हैं। ये जनसम्पर्क अधिकारी सिनेकारों के निजी जीवन के प्रसंगों को भी कितना रंग देना है उसमें बहुत माहिर होते हैं। ये बड़ी चतुराई के साथ अपना काम करते हैं और बड़ी कुशलता से अपना मतलब साध लेते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि फिल्म समीक्षाएं समीक्षाएं न होकर सूचनाएं बनती जा रही हैं। आज फिल्म की कहानी बता देना तथा अंत में कुछ पंक्तियों में निर्देशन, अभिनेता, अभिनेत्री, संगीतकार और छायाकार के बारे मे लिख देना ही समीक्षा कहलाने लगी है।

फिल्म समीक्षा का गिरता स्तर लेखकों की श्रेष्ठ कृतियों के फिल्मांकन में बहुत बड़ा अवरोध है। समीक्षा का यह गोरखधन्धा छिछला वातावरण बनाकर श्रेष्ठ कृतियों के निर्माण को हतोत्साहित करता है। कारण यह है कि श्रेष्ठ कृतियाँ जितनी ही सांस्कृतिक होती हैं ये उतनी ही अपसांस्कृतिक होती हैं। श्रेष्ठ रचना संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ रूप और कथ्य, दोनों में प्रयोगशील होती हैं और विम्बात्मक व प्रतीकात्मक भाषा का निर्माण करती हैं। इन कृतियों पर बनी फिल्में भी इनके

---

43 नया सिनेमा, विनोद भारद्वाज, पृष्ठ 20

44 नया सिनेमा, विनोद भारद्वाज, पृष्ठ 21

समानान्तर अपनी सर्जनात्मक भाषा की रचना करती हैं। यदि फिल्मकार इस कला से चूक जाता है तब साहित्यकार यह आरोप लगाते हैं कि उनकी कृति के साथ फिल्मांकन में अन्याय हुआ है। फिल्म की सर्जनात्मक भाषा के निर्माण में समीक्षकों की भी अहम् भूमिका है। मुक्तिबोध की रचना 'खंडहर' पर आधारित 'सतह से उठता हुआ आदमी' तथा 'एक डाक्टर की मौत' जैसी फिल्मो की सम्प्रेषणीयता तो तब तक पूर्ण नहीं हो पाती, जब तक कि समीक्षक नाम का मध्यस्थ उसकी व्याख्या न करे।[45] शायद ही कोई ऐसी फिल्म हो जिसमें प्रतीक एवं विम्बयोजना का उपयोग न हुआ हो। दृश्य और बिम्बों के अर्थ खोलते-चले जाने पर उबाऊ फिल्म भी आनन्दमयी हो जाती है। यदि समीक्षक प्रतीको के अर्थ खोल दे तो फिल्म रुचिकर लग सकती है। इससे अच्छी फिलमो के निर्माण मे प्रोत्साहन मिलेगा। ... फिल्मे अच्छी तरह सामाजिक भूमिका का निर्वाह भी कर सकेगी।[46]

आवश्यकता इस बात की है कि फिल्म पत्रकारिता के नाम पर उग आए कुकुरमुत्तों को स्वस्थ फिल्म पत्रकारिता से स्थानापन्न किया जाए और इसे सांस्कृतिक कर्म के रूप में लिया जाए।

कविता की संगीतमय अभिव्यक्ति - गीत

प्रसंगात गीतों की चर्चा आवश्यक है। गीत क्रिएशन का पर्याय है और साहित्य की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। सिनेमा के उद्भवकाल में समाज में थिएटरो की वही प्रतिष्ठा थी जैसी आज फिल्म की है। वस्तुत: फिल्म का निर्माण प्रारम्भ में नाटकों के फिल्मांकन से ही शुरू हुआ है। नाटक के लिए संगीत आवश्यक नहीं है। इसी कारण मूक फिल्मे भी अपने जमाने में खूब चलती थीं। टाकीज की शुरुआत से संगीत का प्रयोग शुरू हुआ और संयोग से संगीत एवं गीत दोनों की जोड़ी सिनेमा में साथ-साथ ही चलती रही। धीरे-धीरे यह सिनेमा के लिए अपरिहार्य हो गया। सिनेमा को लोगों तक पहुँचने में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका है। गीत फिल्मी संगीत का केन्द्रीय तत्व और कविता की संगीतमय अभिव्यक्ति है। कई बार किसी फिल्म के गीत ही उसकी सफलता के आधार सिद्ध होते हैं क्योंकि सिनेमा के ऐतिहासिक अनुभव से स्पष्ट है कि कई फिल्मों की अपार सफलता का कारण उसके गीत रहे हैं। फिल्म निर्मित होने के पूर्व ही बाजार में रिलीज हुए उसके गीत प्राय: इतने लोकप्रिय हुए कि फिल्म के दर्शकों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई और उसकी तूती बोलने लगी।

---

45 सिनेमा की सवेदना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 14

46 सिनेमा की सवेदना, डॉ विजय अग्रवाल, पृष्ठ 102

गीत, फिल्म को विस्मरण से बचाते है। आज बहुत-सी ऐसी फिल्मे हैं जो समाज में अपने गीतों के कारण ही जीवित हैं, क्योकि ऐसी फिल्मे मन और मस्तिष्क मे अपना घर बना लेती हैं। हिन्दी को अखिल भारतीय स्वरूप एवं गैर हिन्दी भाषी क्षेत्रो मे हिन्दी की स्वीकृति दिलाने में भारतीय फिल्म एवं उनकी गीतों की अहम् भूमिका रही है। फिल्म के गीतों ने ही इस जगत् के लिए साहित्यकारो की उपस्थिति को आवश्यक बनाया।

भारतीय सिनेमा में साहित्यिक स्तर के सृजनशील अभिव्यक्तियो की समृद्धिशाली परम्परा रही है। शैलेन्द्र, हसरत जयपुरी, मजरूह सुल्तानपुरी, फैज अहमद फैज, कैफी आजमी, इन्दीवर, गोपालदास नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, योगेश, समीर, भरत व्यास, बालकवि वैरागी, साहिर, नरेन्द्र शर्मा, प्रदीप और गुलजार आदि गीतकारों ने अपने शब्दों के माध्यम से साहित्य को जनता की जुबान पर उतारा है। इनमें साहिर लुधियानवी और कैफी आजमी जैसे प्रगतिशील शायर थे तो शैलेन्द्र, प्रदीप, नरेन्द्र शर्मा जैसे हिन्दी के गीतकार भी थे। इनकी चेतना मे प्रगतिशील लेखक संघ और छायावादी साहित्य दोनो का प्रभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर फिल्मी गीतो मे सामाजिक चेतना के भाव व्यक्त हुए वहीं दूसरी ओर प्रेम और सौन्दर्य के उच्च मानदण्ड भी स्थापित हुए। ये मापदण्ड भाव और भाषा दोनों स्तरों पर किसी भी साहित्यिक गीत अथवा कविता से निम्न कोटि के नहीं हैं। बल्कि शायर और गीतकारों के मिले-जुले रूप का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी और उर्दू के मिश्रण से गीतों की एक नई भाषा ने जन्म लिया और इसी कारण ये गीत आम लोगो के बीच लोकप्रिय हो सके।[47]

चन्दन सा बदन, चंचल चितवन, जीवन से भरी ये दो आँखे मजबूर करे जीने के लिए, जिन्दगी का सफर है ये कैसा सफर, ओहरे ताल मिले नदी के जल में (इन्दीवर), तू चन्दा मैं चाँदनी, तू तरुवर मै छाया (बालकवि बैरागी), सत्यम् शिवम् सुन्दरम् (नरेन्द्र शर्मा), चल अकेला चल, तेरा मेला पीछे छूटा रे (प्रदीप), छुपालो दिल में प्यार मेरा जैसे मंदिर मे लौ दिये की (मजरुह), हमने देखी है इन आँखों में महकती खुशबू (गुलजार), तू आ गए तो नीर आ गया है जैसे चिरागों से लौ जा रही थी (गुलजार), दिल के गिरह खोल दो (शैलेन्द्र), तू गगन की चन्द्रमा मैं धरा की धूल हूँ (भरतव्यास) नीले गगन के तले, खिलते हैं गुल यहाँ खिल के बिखरने को (नीरज) आदि गीतों की लोकप्रियता ने इस बात को झुठला दिया कि श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएं जनता पसन्द नहीं करती है और यह उसके लिए दुर्बोध होती हैं। साहित्य की गीत विधा यदि कहीं सुरक्षित है तो वह फिल्म मे। फिल्म में श्रेष्ठ गीतों का

---

47 आजकल, दिसम्बर 1990, पृष्ठ 27

अपरिमित संसार है। यहाँ उन सभी का उल्लेख आवश्यक नहीं है। साहित्य के संदर्भ में विवेचन ही अभिप्रेत हैं।

फिल्म में गीत एवं संगीत का चोली दामन का साथ है। फिल्म अपनी लम्बी विकास यात्रा में गीत एवं संगीत के संतुलित सामंजस्य को पोषित करता आया है। इस परम्परा में यह प्रयास रहा है कि संगीत की स्वर ध्वनि में गीत के शब्द धूमिल न होने पाए। लेकिन बदलते वक्त ने परिस्थितियाँ बदल दी हैं। आज संगीत के शोर मे गीत का शब्द खो गया है, जो बचे शब्द हैं भी वे अपसंस्कृति के वाहक और भोंडे स्वरूप के मात्र। संगीत की क्या स्थिति है इस बारे में बहुत नहीं कहा जा सकता किन्तु इस बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संगीत के आचार्य-गुरु अपने शिष्यों को फिल्मी संगीत को सर्वथा निषिद्ध करते हैं। संगीत के लिए यह शुभ लक्षण हो सकता है कि आजकल धुन का महत्व बढ़ गया है। पहले गीत के बाद संगीत तैयार किया जाता था। आजकल ज्यादातर धुनें पहले तैयार की जाती हैं और फिर गीत लिखे जाते हैं। मगर तैयार धुनों पर गीत लिखे तो उसमे कविता नहीं रह जाती। पहले कहानी की सीमा थी, फिर प्रसंगों की सीमा हुई और अव धुनो की सीमा हुई। अब हर दृश्य बदल गया है। अब संगीत कम्पनियां और संगीतकारों की तूती बोलती है और अफसोस की बात है कि वे गीतों का मूल्य नहीं समझते। गीतकारों को उनका श्रेय नहीं मिलता, जब कि उनका योगदान बराबर और कभी-कभी अधिक ही होता है।[48] संगीत की इस महत्ता के बावजूद संगीत का व्यापार पक्ष इतना प्रबल हो गया है कि गाने में मोती की सी चमक पैदा करने की फुरसत नहीं मिल पाती। संगीतकारों को जिस संगीतकार की कोई फिल्म हिट हो जाती है, कोई गाना चल जाता है, उसके पीछे सभी दौड़ने लगते हैं। उसके पास इतना काम हो जाता है कि जितना वह कर नहीं सकता। प्रोड्यूसर उसकी सफलता को जल्दी से जल्दी कैश कर लेने के लिए उतावले रहते हैं। शाम को धुन फाइनल हुई, सुबह रिकार्डिंग। कई बार तो रिकार्डिंग और कैसेट कम्पनियों को गाने सिर्फ धुन सुनाकर बेच दिए जाते हैं। उस वक्त तक तो उसके बोल भी लिखे नहीं गए होते। जब गाना पहले ही बिक चुका हो तो उसके बोलों पर मेहनत करने-कराने की जरूरत किसी को क्यों महसूस होगी? .. 'चंदन सा बदन', चंचल चितवन, जैसे गीत इस जल्दबाजी में भला कैसे बनेंगे।[49] फिल्म की विकास यात्रा के इस मोड़ पर व्यावसायिकता इस कदर हाबी हो गई कि खूबसूरत कविताओं व गज़लों को गीतों में ढालकर जिन गीतकारों ने हिन्दी सिनेमा को प्रचलित हल्के-फुल्के व घटिया किस्म के गीतों से उबारा है और फिल्मी

---

48. इन्दीवर (मुझे नहीं लगता कि मैंने खुद को गिराया है), अमृत प्रभात, 23 अगस्त 1996

49. कल्याण जी आनन्द जी, (सन्नाटे में संवाद-साहित्य वार्षिकी, इण्डिया टुडे, 1993-94), पृष्ठ 192

गीतों में साहित्य को महत्व देने के लिए जिनकी प्रशंसा की जाती रही है उन्हीं गीतकारों पर अब अश्लील होने का आरोप लग रहा है, और वे बेतुके-ताल के द्विअर्थी व अश्लील गानो की रचना कर रहे हैं। इस परिस्थिति से विवश होकर कुछ श्रेष्ठ गीतकारो ने गीत लिखना बन्द कर दिया और इस कला से कलम को निकाल दिए जाने पर चिंता व्यक्त की[50] तो कुछ वही श्रेष्ठगीतकार चोली, कबूतर और खंडाला पर उतर आए। इसी स्थिति से चिंतित होकर ही फिल्मी गाने के भी सेंसर किए जाने की बात उठाई गयी।

दोष केवल गीताकारों का ही नहीं है। सिचुएशन के अनुसार गीत लिख दिया जाता है और रिकार्डिंग के समय गायकों को भी यह पता नहीं होता है कि उसका गाया गाना किस तरह पिक्चराइज किया जाएगा। सीधे-साधे शब्दों वाले गानें को भी इस तरह फिल्माया जा सकता है कि वह द्विअर्थी लगे।[51] दुर्भाग्यवश सभी कलाओं की विशेषकर सिनेमा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति व्यावसायिकता के पिंजड़े में कैद हो गई है। फिल्म निर्माताओं का उद्देश्य अच्छी व शिक्षाप्रद फिल्में बनाना न होकर ऐसी मसाला फिल्में बनाना रह गया है, जिनसे अधिक-से-अधिक पैसा कमाया जा सके। पहले सिनेमा कहानी, गीत, संगीत आदि के लिए बाहरी कलाकारों और साहित्यकारों पर निर्भर था लेकिन आज सिनेमा ने अपनी अलग खिचड़ी पकानी शुरू कर दी। इसके अपने लेखक, गीतकार और संगीतकार हैं, जिन्हें साहित्य और सांस्कृतिक विरासत की कोई जानकारी नहीं है। इनमें से अधिकतर लोग पैसा व लोकप्रियता की चाह में सिनेमा से जुड़े।[52] फिर इनसे सांस्कृतिक उत्तरदायित्व की कितनी अपेक्षा की जा सकती है ? यही कारण है कि ये लोग एक बार चमकते हैं तो फिर तुरन्त विलोप भी हो जाते हैं और पता ही नहीं लगता कि कहाँ चले गए। विचार एवं संवेदना के अभाव में ये लेखक शब्द की बाजीगरी करने लगते हैं।

एक जमाना था जब संगीतकार आत्मा एवं परमात्मा को सामने रखकर संगीत पैदा करता था। अब लोग टिकट की खिड़की को ध्यान में रखकर संगीत की रचना करते हैं।[53] फिल्मी गानों में जो

---

50. मजरूह सुल्तानपुरी (सन्नाटे में संवाद - इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी), वर्ष 1998-99, पृष्ठ 190

51 अल्का याज्ञिक (सन्नाटे में संवाद - इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी), वर्ष 1998-99, पृष्ठ 200

52. गुलजार, मनोरमा, जनवरी 96, पृष्ठ 96

53. ममता कालिया, 'भारतीय सिनेमा उपलब्धियां और संभावनाएं' विषय पर संगोष्ठी, आकाशवाणी से 24-8-96 को प्रसारित

मिठास हुआ करती थी वह खत्म हो गई। एक आपनापन इसमे से समाप्त हो गया। ऐसा लगता है कि शोर के विरुद्ध जो नारे हमने गढ़े हैं वे इस फिल्मी शोर के पक्ष में चला जाता है और इस तरह से हम एक शोर ही पैदा करते हैं।54

कविता की विकास यात्रा में छन्दवद्ध और छन्दमुक्त दो धाराएं निर्मित हुईं जिसमें छन्दबद्ध धारा का अधिकांश फिल्मीगीतों मे संरक्षित रहा तथा छन्दमुक्त धारा शुद्ध साहित्य के कोटे में चला गया। हालांकि आनन्द बक्शी जैसे कुछ गीतकारों ने फिल्मो मे गद्यगीत के आयाम (अच्छा तो हम चलते हैं- फिल्म आन मिलो सजना) उद्‌घाटित किए। परिवर्तीकाल मे फिल्मी संगीत से कविता के शब्द की आभा धूमिल हुई, लय बना रहा तथा शुद्ध साहित्यिक कविता धारा से लय खो गया, शब्द शेष रह गया। इन दोनों अतियों ने साहित्य को लोक से दूर ही किया है। लय और शब्द दोनो ही कविता की संजीवनी शक्तियाँ हैं। यदि फिल्मकार और साहित्यकार दोनों इसे ध्यान रखे तो निश्चित ही साहित्य के लोकविसर्जन के साथ फिल्मी गीतो की गरिमा वापस मिल सकती है।

भारतीय सिनेमा का सौन्दर्य शास्त्र और साहित्य

भारतीय सिनेमा ने शती मना ली। अब वह एक स्वतंत्र इकाई के रूप में विकसित हो चुका है। उसकी अपनी प्रविधि और विशेषता है तो साथ ही अपना शब्दकोष भी। इधर सिनेमा समीक्षा ने कुछ नये शब्दों की सृष्टि की है। उनकी चर्चा के बिना सिनेमा पर विचार अधूरा होगा। प्रेम-त्रिकोण, देह का भूगोल, भय, हिंसा व सेक्स की त्रिवेणी,अंत में नायक-नायिकाओं का मिलन, ये सब सिनेमा के अपने पद हैं। वर्तमान स्थिति को देखते हुए कह सकते हैं कि अब सिनेमा को किसी सधे साहित्यिक हाथों की आवश्यकता नहीं है। सिनेमाई साहित्य के कुछ सरल सूत्र हैं। एक लब्ध प्रतिष्ठित या प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार को भी सिनेमाई साहित्य के लिए इन्हीं सूत्रों का प्रयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द और जैनेन्द्र को फिल्म की शर्तें स्वीकार न हुईं फलतः उन्हें वापस लौटना पड़ा।

प्रेम का सारभौमिक व सारभूत तत्व सिनेमा मे अपने वैविध्य के साथ बिखरता है। भारतीय सिनेमा का प्रेम त्रिकोण प्रख्यात है। कथा में कुछ भी गूढ़ नहीं है। भारत के भावुक भावक (दर्शक) को ध्यान में रखकर लिखी गई कथा बिल्कुल सपाट व स्पष्ट होती है। दर्शक को यह पता रहता है कि इसके आगे क्या होने वाला है। बँधे-बँधाए प्लाट पर बनी कुछ फिल्में सरपट दौड़ती हैं, कुछ चलती हैं तो कुछ पिट भी जाती हैं। इसका कारण उनमें प्रयुक्त सौन्दर्य साधनो की भिन्नता है। इन सौन्दर्य साधनों

---

54. श्री अजामिल, 'भारतीय सिनेमा : उपलब्धियाँ और संभावनाएं' संगोष्ठी, आकाशवाणी से 24/8/96 को प्रसारित

मे प्रमुख है- देह का भूगोल शास्त्र, हिंसा, भय और दर्शक की भावुकता को तृप्त करने वाले प्लेटोनिक प्यार का सिनेमाई अंदाज और भ्रष्टाचार तथा उसके निवारण के करतब दिखाने वाले नायक के फैटम सरीखे आवश्यक कारनामे। 'राम तेरी गंगा मैली हो' या 'चोली के पीछे' छिपे रहस्य की जिज्ञासा ये सभी दर्शकों के लिए साधारणीकरण की दृष्टि से सर्वोत्तम एव उपयुक्त ठहरते हैं। आज के युग में जबकि सिनेमा व्यावसायिकता से आक्रान्त है, फलत: पैसा लगाने वाला निर्देशक बनने की दौड़ में हो तो यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने कुशल निर्देशन से दर्शको को स्वस्थ मनोरंजन देने के बजाय बिजली की चकाचौंध से नायिका की कंचनकाया को चमकाए।

दर्शक की चेतना को सुसुप्त करने की क्षमता जितनी ही किसी फिल्म मे होगी, वह फिल्म उतनी ही सफल होगी। यह फिल्म की सफलता का व्यावसायिक मापदण्ड है। सीमा विश्वास की अभिनीत सचाई पर विश्वास कर दर्शकों के जितने आँसू और आक्रोश फफकें हैं, शायद फूलन देवी के सचाई से उतने न हुए हों। मिस्टर इण्डिया और प्रतिघात ने जीवन के समर मे हार मानकर भ्रष्टाचार को अपना लेने वाले दर्शकों के मन में भी अपने प्रति सहानुभूति उत्पन्न की है। यह दर्शकों की अपनी सीमाएँ हैं। फिल्मों की हिंसा ने अपराध की नई विधाएँ विकसित की हैं, यह भी किसी से छिपा नहीं है।

तकनीकी विकास ने सिनेमा को सम्पन्न किया है तो चुनौती भी खड़ी की है। फोटोग्राफ इलेक्ट्रानिक्स एवं कम्प्यूटर ने सिनेमा में चार चाँद लगाए हैं तो यह आकस्मिक ही है कि सेल्यूलर व इण्टरनेट के इस युग में कबूतर भी प्रासंगिक हो गया। सिनेमा में प्रयोग की अनंत संभावनाएँ हैं। सिनेमाई संगीत ने छत पीटकर भी अपना सरगम निकाला है। जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत में स्वर विधा, शब्द विधा (गीत या कविता) से मुक्त होकर भावोद्रेक करती है उसी प्रकार भाव विहीन सिनेमाई संगीत ने भी उत्कर्ष स्थापित किया है। ऐसे गीत रचनाओं की लोकप्रियता को देखते हुए इसे औद्योगिक समाज का लोकगीत कहना अप्रासंगिक न होगा। आवश्यकता जनता के मानस को समझने की है।

सिनेमा का साहित्य से अटूट रिश्ता है। सिनेमा मे कथा है तो निश्चित ही वह साहित्य होगा। यह अलग बात है कि उसकी कथा को हम साहित्य माने या न मानें। इधर सिनेमा ने अपने साहित्यकार, गीतकार, संवाद लेखक, पटकथा लेखक आदि विकसित कर लिए हैं। सिनेमा की कथा सिनेकार नायक और नायिका को ध्यान में रखकर लिखी जाने लगी है। इसे सिनेमा साहित्य का उत्कर्ष माना जाये या नहीं यह शोध का विषय है। ऐसा लगता है कि व्यावसायिक सिनेमा व साहित्य में ठन गई हो। हालांकि दोनों की अपनी सीमाएँ हैं। सिनेमा के सौन्दर्यबोध की अपेक्षा साहित्य का सौन्दर्यबोध अधिक विकसित और व्यापक है। सिनेमा में एक वर्ग ऐसा है जिसने साहित्य से सिनेमा को भी समृद्ध करने का प्रयत्न

किया है। इसने व्यावसायिक फिल्मो से अलग हटकर अपनी समानान्तर धारा विकसित करने की कोशिश की है। ऐसी फिल्म कला फिल्म या समानान्तर सिनेमा के नाम से प्रचलित है। समानान्तर सिनेमा के भावबोध अधिक व्यापक तथा सौन्दर्यवोध अत्यत मानवीय और यथार्थ हैं। मुख्यधारा से कटकर समानान्तर फिल्मों ने कलात्मक ऊँचाई छूना चाहा है। किन्तु अभी भी वह पुरस्कार एवं व्यावसायिक संघर्ष से उबरकर सामान्य जन तक नहीं पहुँच पा रही है। फिर भी साहित्य के लिए व्यापक अक्षर विहीन समाज तक पहुँचने के लिए सिनेमा के माध्यम की संभावना से एक शुभ लक्षण दिखे हैं। आवश्यकता है साहित्य सिनेमा से रूठना छोडकर उसकी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए गुरुतर दायित्व वहन करने तथा सिनेमा वर्तमान सौन्दर्य प्रतिमानों एवं व्यावसायिकता के पंकिल वातावरण से बाहर आकर सार्थक भाव भूमि का दर्शन करे।

कैमरा और कलम की भाषा

साहित्य शब्द की विधा है। स्वर के साथ जुडकर यह आकाशवाणी और मंच की विधा हो जाती है। कला की अन्य विधाएँ साहित्य की शब्द विधा से मिलकर अन्य माध्यमों के विधा की रचना करती हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य का शब्द अपने सम्प्रेषण के लिए अन्य विधाओं पर निर्भर है। साहित्य की अनिवार्यता भाषा है न कि माक्रोफोन या कैमरा। यह अपने आप में पूर्ण आत्मनिर्भर विधा है, इसे पाठक चाहिए, दर्शक या श्रोता नहीं। अन्य माध्यम साहित्य को सीमित पाठक की दुनियाँ से बाहर निकाल कर इसे असीमित जनसमूहों के बीच पहुँचाते हैं। उस रचना को क्लास से मॉस (Class to mass) के बीच लाते हैं। अन्य माध्यमों की यह भूमिका अतिरिक्त और महत्वपूर्ण हो सकती है। सिनेमा को ध्यान में रखकर लिखा गया साहित्य पूरी तरह से साहित्य नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि किसी फिल्मकार को किसी साहित्य से उस पर फिल्म बनाने की प्रेरणा मिली हो। इस रूप में वह उस कृति का अन्य माध्यम में रूपांतरण करता है। यह रूपांतरण सर्जनात्मक हो सकता है। इसलिए उसे उस रचना का पुनर्सृजन भी कहा जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि रचना के पढ़ने और देखने का अनुभव एक हो। सिनेमा के इतिहास मे ऐसे बहुत कम अवसर रहे हैं जब रचना के देखने और पढ़ने का अनुभव एक रहा हो। ऐसा तव ही संभव है जब या तो रचनाकार ही फिल्मकार हो अथवा फिल्मकार की साहित्य सम्बन्धी समझ और साहित्यिक आलोचक की समझ एक हो। यह पार्थक्य जितना ही बड़ा होगा उस रचना पर फिल्मांकन उस रचना से उतना ही दूर होगा।

कोई भी कला माध्यम अपने विकास के उत्कर्ष पर स्वतंत्र इयत्ता ग्रहण करते हुए पूर्ण आत्मनिर्भर हो जाता है। न भी हो तो उस माध्यम का यही प्रयास रहता है कि वह एक स्वायत्तपूर्ण सम्पूर्ण इकाई का मान दे। इस अवस्था में फिल्म कविता की ऊँचाई तक पहुँचकर कैमरा द्वारा लिखा

गया साहित्य हो जाता है। जब शेक्सपियर या रवीन्द्र नाथ टैगोर की कृतियों पर अच्छी फिल्मे बनीं तो इसे एक सुनिश्चित प्रमेय मे बदला गया कि एक अच्छी फिल्म के लिए एक अच्छी कहानी का होना जरूरी है। बिना कहानी की फिल्म तब एक असम्भावना थी। इसी मानसिकता का विस्तार इस रूप में हुआ कि सिनेमा साहित्य से आगे (बियान्ड लिट्रेचर) कैसे जाए। 50 के दशक से ऐसी फिल्में देखने को मिलीं जहां फिल्म तो थी, किन्तु कोई कहानी रूप नहीं। इसे सिनेमा के तलाश के मुहावरे में देखा गया कि सिनेमा अपनी भाषा और संवेदना को पहचान कर उसमें लिखित साहित्य से अलग, अपने आप को व्यक्त करे- सेल्यूलाइड पर कैमरा कविता लिखे। शब्दो में अनूदित न होकर यदि विम्ब चाक्षुष होता जाए, तो इस भाषा में कैमरा कविता लिख सकता है, यही तलाश है सिनेमा की और फिल्मकार की, कि वह कविता की ऊंचाई का कैमरा ढूँढे या निर्माण करे।[55] इस सोपान पर फिल्म कैमरे की भाषा गढ़ने लगती है और फिल्म मास मीडिया से क्लास मीडिया मे रूपांतरित हो जाती है। प्रयोगशीलता के इस उत्कर्ष पर फिल्म कला, कला के लिए का प्रयोजन सिद्ध करती है। इतने के बावजूद फिल्म अपनी मूल संरचना एवं स्वभाव में मास मीडिया है। वह साहित्य की उपेक्षा नहीं कर सकती। साहित्य उसके लिए 'मेरुदण्ड' की तरह है, जिस पर उसका ढाँचा खडा रहता है। यहॉ यह बात अवश्य है कि सिनेमा किसे अपना साहित्य समझता है, किसे नहीं[56] और साहित्य के किस रूप का प्रयोग करता है। स्थिति चाहे जो भी हो लेकिन इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि फिल्में अपनी सही सामाजिक भूमिका तभी निभा सकेंगी, जब वे साहित्य का आधार और साहित्य के संस्कार लेकर चलें।[57] कथानक की वैविध्यता उसे साहित्य में ही मिल सकेगी। फिल्म मे कथा भिन्न कोणों से, टुकड़ो में जोड़े गए संवाद-संगीत युक्त और मूक दृश्यों के मिले-जुले प्रोजेक्सन से स्पष्ट की जाती है। यदि संवाद न भी रहे, जैसा मूक सिनेमा में होता था, तब भी मात्र दृश्यों के ही प्रबन्ध से फिल्म एक निश्चित संवाद या घटना की सृष्टि कर दर्शकों की भावनाओं को ऐच्छिक तरीके से आन्दोलित कर सकती है। फिल्मों की यह चित्रात्मकता उसके मूल साहित्य को एक अलग किस्म का जटिल व्याकरण प्रदान करती है, साथ ही उसकी सीमाएं भी बांधती है।[58] फिल्म की सतह की भाषा भौतिकवादी प्रतिक्रियाओं की भाषा है

---

55. 'कविता की ऊंचाई का कैमरा'-गौतम चटर्जी (उत्तर प्रदेश-साहित्य वार्षिकी - 1997 के एक लेख से)

56. सिनेमा की सवदेना, डॉ विजय अग्रवाल, पृष्ठ 37

57. सिनेमा की संवदेना, डॉ. विजय अग्रवाल, पृष्ठ 39

58. 'सिनेमा कुछ नोट्स'-संजय सहाय, आजकल, जनवरी 1996, पृष्ठ 8

लेकिन इसके तल में प्रवाहित होने वाली भाषा संवेदना की भाषा है।[59] केवल सवाद ही उसकी भाषा नहीं है बल्कि दृश्य, ध्वनि, रंग, शब्द आदि सभी मिलकर उसकी भाषा की रचना करते हैं।

साहित्य की भाषा के प्रमुख तत्व हैं- विम्ब, आद्यबिम्ब, प्रतीक, रूपक, अन्योपदेश, स्वप्न, फैन्टेसी, पैरबल, ह्यूमर और किराकर। इसी प्रकार फिल्म की भाषा के प्रमुख तत्व है- प्रतीक, विम्ब, कट्स, दृश्य, स्वप्न, रूपक-कथा, उपमा आदि। इन तत्वो की समानता लगभग दोनों माध्यमों में है। अन्तर केवल विधा का है। साहित्य शब्द विधा है तो फिल्म दृश्य विधा। साहित्य अपने शुद्धतम रूप में काव्य है, पहले काव्य ही साहित्य का पर्याय था। बिम्ब ही कविता की भाषा गढ़ते हैं। इसी प्रकार कलाओं की संश्लिष्ट विधा है- फिल्म और बिम्बा फिल्म की भाषा को गढ़ते हैं। अस्तु, बिम्ब साहित्य एवं फिल्म दोनों के लिए महत्वपूर्ण तत्व है। फिल्म का प्रमुख तत्व कथ्य है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने वाले कुशल निर्देशकों ने विषय वस्तु को गहराई और सम्पूर्णता से व्यक्त करने के लिए उपमा, रूपक, प्रतीक, रूपक-कथा, संकेत, सादृश्य आदि का सौन्दर्यमयी प्रयोग किया है जिससे विषय वस्तु की अर्थवत्ता कई गुना बढ़ गई है। इन निर्देशकों ने ऐसी कहानियों को कच्चे माल की तरह इस्तेमाल न करके, उन्हें कलात्मक और साहित्यिक आयाम दिया।[60] फिल्मकारों के समक्ष अभिव्यक्ति की जब भी चुनौती खड़ी हुई या कुछ प्रसंगों के दृश्य जब अश्लीलता की सीमा लांघने लगे उस समय प्रतीक, बिम्ब आदि तत्व ही उनकी अभिव्यक्ति के हथियार बने। इतना ही नहीं बल्कि फिल्मों ने ऐसे प्रतीकों का प्रयोग करके 'नाट्यशास्त्र' के उन नियमों का भी पालन किया जिन्हें आचार्य भरतमुनि ने रंगमंच पर वर्णित माना था।[61] उपन्यास तथा फिल्म की समीपता बिम्ब निर्माण में निहित है। कोई लेखक यदि लेखन-कला को इस स्तर पर ले आता है जिससे वह शब्दों के माध्यम से बिम्ब रचना करता है तो वह भाषा महत्वपूर्ण बन जाती है। इस प्रकार वह किसी वस्तु या घटना को मस्तिष्क के आंतरिक पर्दे पर प्रक्षेपित करने में सक्षम हो पाता है। फिल्म के साथ उसका यही सरोकार है। फिल्मकार के लिए गतिशील मूर्तबिम्ब विषयवस्तु के सम्प्रेषण का आधार होता है। फिल्मकार जैसे ही भाषिक रचना को छोड़कर गतिशील बिम्बों का कलारूप स्वीकार करता है परिवर्तन अपरिहार्य हो जाते हैं। अत: यह निश्चित है कि उपन्यास का प्रयोजन और उसका रचनामूलक साध्य तथा फिल्म एक भिन्न सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिल्मकार किसी वास्तविक घटना में सार्थकता की कुछ एक

---

59. सिनेमा की संवदेना, डॉ विजय अग्रवाल, पृष्ठ 49

60. भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 144

61. सिनेमा की संवदेना, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 37

आंतरिक संरचना का प्रत्यक्षण करता है। वह इन चाक्षुप खण्डो या ध्वनिक खण्डों का चयन कर लेता है जो इस सार्थकता की अभिव्यक्ति करते हैं। फिर वह इन खण्डो का विन्यास एक ऐसी फिल्म संरचना में करता है जो वास्तविक घटना की उसके द्वारा उसकी प्रत्यक्षित तात्विक गुणवत्ता को अभिव्यक्त करती है। इसलिए दर्शक किसी घटना के पर्दे पर प्रदर्शित किसी सुनश्चित बिम्ब से घटना की हुबहू पूर्णता को ग्रहण कर लेता है, भले ही वह एक क्रम में जुडे हुए दृश्यखण्डों या ध्वनिखण्डो मात्र को देख रहा होता है। यह किसी फिल्म के आलेखन का रहस्य भी होता है।[62]

भारतीय कलाफिल्मों ने इन्हीं तत्वों के आधार पर फिल्म के क्लासिकी भाषा की रचना की है। गुरुदत्त ने बिम्ब और प्रतीकों का प्रभावशाली प्रयोग किया है। सत्यजीत राय की सफलता का कारण यह था कि वे दृश्यों के विवरण में बड़ी गहराई के साथ जाते थे और चुन-चुन कर विम्बों प्रतीकों को रखते थे। विमल राय और गुरुदत्त को इस बात की बहुत अच्छी और गहरी समझ थी कि कौन से दृश्य को किस स्थान पर कितनी देर के लिए किस प्रकार प्रस्तुत करना है। यहाँ पर निर्देशक के लिए केवल साहित्यकार की संवेदना की ही जरूरत नहीं होती, बल्कि एक चित्रकार की समझ और छायाकार की आँखों की भी जरूरत होती है।[63]... उपन्यासकार अर्नेस्ट हेमिग्वे ने कहानी लेखन के बारे में जो एक बात कही थी वह फिल्मों के दृश्य संयोजन के बारे में भी सही जान पडती है। हेमिंग्वे का मानना था कि यदि आप कहानी में एक ड्राइंगरूम का वर्णन कर रहे हैं, और आपने उसकी दीवार पर एक लटकती हुई एक बन्दूक का जिक्र किया है, तो यह जरूरी है कि आप कहीं न कहीं उस बन्दूक को चलवाएं भी। फिल्मों के लिए तो इस परफेक्सन की और भी जरूरत है, क्योकि साहित्य में तो एक बार में एक ही दृश्य का वर्णन होता है, जबकि फिल्म में एक साथ आँखों को न जाने कितने, दृश्यों से जूझना पड़ता है। इसलिए वहाँ दृश्यों की भूमिका 'सजावट की पेन्टिग्स की भूमिका न होकर' एक प्रभावशाली संवाद की भूमिका होनी चाहिए।[64]

किसी भी कलाकृति के आस्वादन, समझने और उससे आनन्द लेने के लिए उसकी भाषा और उसके व्याकरण को जानना आवश्यक होता है। उस कलाकृति की समीक्षा में व्यक्तिगत रुचि और प्रतिक्रियाएँ ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं होती हैं। इस रूप में साहित्य एवं फिल्म की अलग-अलग भाषा,

---

62. सिनेमा की संवदेना, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 142, 143

63 सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 44

64 सिनेमा की सवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 44

मुहावरों एवं व्याकरणों की पड़ताल आवश्यक है। इसी के आधार पर साहित्य एवं फिल्म के अन्तर्सबन्धों का स्वरूप उद्घाटित हो सकेगा।

सिनेमा सभी ललित कलाओ का कोलाज[65] अथवा समिश्र विधा है। इसमें साहित्य, स्थापत्य, फोटोग्राफी, पेटिंग आदि सभी कला-विधाएँ एकत्रित होकर अन्य सभी कलाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक तरीके से संदेशों को संप्रेषित करती हैं। सिनेमा एक ऐसी कला है जो मानवीय अनुभवों को व्यक्त करने के लिए अपने अधिकार में नितांत नया तरीका अपनाती है।[66] कैमरे की भाषा साहित्य की भाषा से भिन्न होती है। कैमरे की भाषा का अधिकांश प्राविधिक स्थितियों पर निर्भर करता है। साहित्य की भाषा का आधार शब्द है जिसमे उद्बोधनात्मक शक्ति होती है। शब्द पाठक को उसकी कल्पना की सीमा तक ले जा सकता है... शब्द का आधार ध्वनि होता है जो यादृच्छिक रहती है। अर्थ से उसका सम्बन्ध अनुभव सम्पृक्त होता है। फिल्म की भाषा कैमरे के द्वारा चल चित्रांकन, ध्वनियंत्र तथा ध्वनियों के अंकन तथा उनका पुनर्मिश्रण और विभिन्न टुकड़ों के संकलन की तकनीक पर आधारित होती है। इस प्रकार इस नव्यतम कला रूप में मानवीय अनुभवों को व्यक्त करने के लिए यांत्रिक साधनों का उपयोग किया जाता है जो अनुभवों को साकार करने के माध्यम बनते हैं। फिल्म की भाषा तथा लिखित शब्द की भाषा का मूल अंतर उनके अर्मूत और मूर्त रूप का भी है। लिखित शब्द की भाषा स्वभावत: अर्मूत होती है इसलिए उसकी अर्थवत्ता में लचीलापन होता है तथा वह मानवीय अनुभवों को व्यक्त करने में बहुविध उपयोगी होती है। फिल्म गतिशील मूर्त विम्बों की कला है। अत: उसकी भाषा भी मूर्त गतिशील मूर्त बिम्वों पर आधारित होती है।[67] जबकि साहित्य के बिम्बविधान शब्दों तक सीमित होते हैं।

फिल्म मूलत: कैमरे से लिखा गया साहित्य है, न कि कलम से लिखा गया। यदि ऐसा होता तो अच्छा साहित्यकार ही फिल्म निर्देशक होता। जबकि सच्चाई यह नहीं है।[68] दोनों में मूलभूत अंतर है। साहित्यकार एवं निर्देशक दोनों की उद्देश्यगत समानता के बावजूद अभिव्यक्ति के माध्यम भिन्न हैं। भाषा भिन्न है। प्रत्येक कलाविधा की अपनी भाषा होती है और अपना मुहावरा होता है। चित्र की भाषा हैं- रंग और रेखाएँ, तो नृत्य की भाषा है—पदचाप और मुद्राएँ। इसके विपरीत साहित्य की भाषा एक

---

65. सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 11

66 भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 138

67 भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, पृष्ठ 138

68. सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 41

ऐसी लिखित भाषा होती है, जो प्रत्यक्ष होती है।[69] फिल्म की भाषा आँखों से सुनने की भाषा है, यह चुप्प से गुनने की भाषा है, न कि केवल कानों से ग्रहण करने की।[70] फिल्म दृश्य की भाषा है। इतने के बावजूद सिनेमा की भाषा के बारे में सीधा-सीधा कह सकना असंभव है। फिल्म केवल संवादों से ही अभिव्यक्त नहीं होता।

फिल्म मनोरंजन के अतिरिक्त और भी कुछ है, और वह क्या है? उसकी भाषा, विषयवस्तु तथा रूपविधान से क्या संप्रेषित हो रहा है, इसे जानना समझना होगा। यह तभी सम्भव होगा जब फिल्म के सौन्दर्यशास्त्र को उसकी परख का आधार साहित्य तथा अन्य कला रूपों की तरह स्वीकार किया जायेगा क्योकि कला की कसौटी व्यक्तिगत पसंद और नापसंद पर आधारित नहीं होती है।[71] कोई कलाकृति जब स्वतंत्र इयत्ता ग्रहण कर लेती है तो उसकी आलोचना के नये प्रतिमान भी गढ़ने होते हैं। विकास के उच्च सोपान पर कला जटिल हो जाती है। उनकी जटिल संरचना को विश्लेषित करने के लिए जिस व्याकरण की जरूरत होती है वही कृति की श्रेष्ठता को निर्धारित करती है। . फिल्म के संदर्भ में मुख्य बात यह है कि जो बिम्बों में रचित और ध्वनित है, उसमें फिल्मकार ने क्या कहा है। इसलिए किसी फिल्म के अध्ययन के लिए यह जानना आवश्यक है कि फिल्म निर्माण में फिल्मकार ने विषयवस्तु के सूत्रों की जो रचना की है वे उस कृति को सम्पूर्णता मे प्रस्तुत कर रहे हैं तथा क्या अंततः संपादक के द्वारा दृश्यविधान के विवरणों में स्पष्ट पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। फिल्म को जानने की यह प्रक्रिया ही कृति की कलात्मक समीक्षा है।[72]

उपन्यास के मूल में कहानी कहने की जरूरत निहित होती है। वस्तु को कहाँ से देखा जाए, किस कोण से, कितनी दूरी से, कितने प्रकाश मे . सब जगह अविच्छिन्न रूप से उपस्थित रहने वाले और दिखायी पड़ने वाले उपन्यासकार को चुनौती का सामना करना पड़ता है। रचना में कोई पात्र न होने पर भी एक मानवीय आँख होती है जैसे सिनेमा में कैमरा। वह मनुष्य को कल्पनालोक से हटाकर यथार्थ भूमि पर तथा केन्द्रीय स्थिति में खड़ा करता है।... एक उपन्यासकार तब तक उपन्यास की रचना नहीं कर सकता जब तक वह निरंतर विभिन्न अवस्थाओं का निर्धारण नहीं कर लेता जो एक कथावाचक के रूप में उसकी परिदृष्टि को घेरे होते हैं तथा उसकी दूरी गति – जिसका सम्बन्ध उस

---

69 सिनेमा की संवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 40

70 सिनेमा की सवेदना, डॉ० विजय अग्रवाल, पृष्ठ 41

71. भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी पृष्ठ 140

72. भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी पृष्ठ 138

दृश्य से है, जिसका वर्णन हो रहा है। इसे सिनेमा की शब्दावली मे कह सकते हैं- कैमरा ऐंगल क्लोजअप, मीडिया शाट या बिना गति के शाट्स। एक और महत्वपूर्ण पहलू है, जो इन दो कलारूपों के सौन्दर्यानुभूति के अंतर को स्पष्ट करता है। वह है इन दोनों की वर्णन पद्वति, जो आंतरिक रूप से इतनी भिन्न होती है कि एक-दूसरे की समानताओं को रोकती हैं। वस्तुत: उपन्यास की वर्णन पद्वति की सिनेमा में कोई बराबरी नहीं है।

फिल्म के साथ ही कथा साहित्य मे ऐसे विकासात्मक सोपान आए जब फिल्म ने भी उपन्यास रचना को प्रभावित किया। फ्रांस की सिनेमा के न्यू ब्रेव आन्दोलन के फलस्वरूप उपन्यास में आधुनिकतावादी प्रयोगों का प्रचलन शुरू हुआ। उपन्यासो मे दृश्य विकास की असंगति, अचानक विचारों या मनोभावों का आविर्भाव होना, समय के मानदण्डो का आनुपातिक तथा फिल्म की अनुरूपता का होना, पाया जाने लगा जो फिल्म की कटिंग, बिम्बो की विलीनता तथा उसमें क्षेपक के अनुरूप थीं। उपन्यासकार प्रस्ट, जेम्स, ज्वॉइस, डॉस पासोस तथा वर्जीनिया वुल्फ की कृतियों में इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं। बाद में फ्रांस के नए उपन्यास आन्दोलन के अगुवा लेखक एलेन राब्ब ग्रिए ने सिनेमा को साहित्य के नाटकीकृत पुनरुत्पादन की भूमिका से बचाए रखकर पाठ, गति, ध्वनि और बिम्ब के सम्बन्ध को पुनर्व्याख्यापित करने का प्रयत्न किया। ग्रिये के अतिरिक्त फ्रांसीसी लेखिका मार्गरीट डुरास ने भी अपने गद्य लेखन मे सिनेमा के विवरण देने के तरीके को अपनाया और फिल्में बनाई।

कई महान् फिल्मकारों ने सिनेमा की भाषा मे उत्कृष्ट साहित्य की रचना की है। परन्तु साहित्य के स्वीकृत स्वरूप में उनका अनुवाद नहीं हो पाया है। मेरी समझ मे ऐसा होना चाहिए। इससे साहित्य और समृद्ध होगा। यदि सिटी लाइट्स, मॉडर्न टाइम्स, जागते रहो, जुनून जैसी फिल्मे कुशल अनुवादकों द्वारा साहित्य में रूपांतरित हो जाएं तो वे उन फिल्मों की तरह ही 'क्लासिक्स' का दर्जा पाएँगे।[73]

अंतत: साहित्य और फिल्म अपने कलारूप में स्वायत्त हैं। साहित्य साहित्य ही रहेगा। साहित्य पर आधारित सिनेमा साहित्य की कलात्मक अभिव्यक्ति है। फिल्म के लिए साहित्य पूरक हो सकता है और साहित्य फिल्म से लेखन की कुछ शैली और विधा प्राप्त कर सकती है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। यह वैसे ही है जैसे साहित्य के साथ-साथ नाट्य, संगीत, पेंटिंग और नृत्य आदि कलाओं का विकास हुआ।

---

73. सिनेमा कुछ नोट्स, संजय सहाय, आजकल, जनवरी 96, पृष्ठ 61

अध्याय - छः

रचना का अन्य माध्यम में रूपान्तरण

अध्याय - छ :

रचना का अन्य माध्यम में रूपान्तरण

सृजनात्मक साहित्य का अधिकांश भाग लिखित रूप मे प्रस्तुत होता है। लिखते समय रचनाकार पाठक अथवा कविता के सन्दर्भ मे श्रोता का ध्यान रखकर रचना करता है। लिखने में रचनाकार स्वतंत्र होता है और वह कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उडान भर कर उसे शब्द दे सकता है, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना कर सकता है। लिखने मे भाषा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ अभिव्यक्त होती है। लिखित साहित्य में पाठक को यह सुविधा रहती है कि वह रचना का सांगोपांग अध्ययन और पुन: अध्ययन कर सकता है। लिखित रचनाएँ पाठकों को प्रतिक्रिया का अवसर देती हैं। रचना की सार्थकता सम्प्रेषण में है एवं उपयुक्त सहृदय के विना रचना की सार्थकता भी नहीं है। शास्त्रों में भी सहृदय अथवा भावक के बारे में विस्तृत विचार किया गया है। रचना के भावक या पाठक के लिए शिक्षित होने की पूर्वापेक्षा होती है। इस रूप मे रचनाएँ क्लासिक होती हैं। अत: साहित्य को हम क्लास मीडिया कह सकते हैं।

यही रचना जब आकाशवाणी, दूरदर्शन, फिल्म एवं रंगमंच से प्रस्तुत होती है तब वह मास मीडिया अर्थात् जनसंचार माध्यम की रचना हो जाती है। इस रचना को किसी जनसंचार माध्यम से प्रस्तुति में उसे उस माध्यम की आवश्यकताओं एवं सीमाओं के अनुसार नया रूप प्रदान करना पड़ता है। भाषा के कुछ काम को रूपांतरण की इस प्रक्रिया में ध्वनि, दृश्य एवम् संकेतों से अभिव्यक्त करना पड़ता है। यहाँ पर आकर भाषिक संवेदन का अधिकांश चाक्षुष संवेदन में परिणित हो जाता है।

किसी रचना के अन्य माध्यम में रूपांतरण की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। भारत में बहुत पहले से लोकनाटकों के माध्यमों से रामायण, महाभारत आदि कथाओं की प्रस्तुति होती रही है। कालिदास, हर्ष, वाणभट्ट आदि की संस्कृत रचनाओं का भी रूपांतरण होता रहा है। कई औप-न्यासिक कृतियों के भी सफल नाट्य रूपांतरण हो चुके हैं। इन्हें किसी भी दृष्टिकोण से साहित्येतर नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार साहित्यिक रचनाओं के रेडियो रूपांतरण भी हो चुके हैं। साहित्य जगत में इनकी भी स्वीकृति है, इस पर कोई हो-हल्ला नहीं होता है। इसका कारण संभवत: इन माध्यमों पर सचेत संस्कृत कर्मियों का वर्चस्व रहा है अथवा उन माध्यमों की विशेपता रही है।

प्रश्न तब खड़ा होता है जब साहित्यिक कृतियों पर फिल्म अथवा धारावाहिक बनता है। कई बार साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्म अथवा धारावाहिक ने उसके मूल कृतिकार को बहुत असंतुष्ट किया है। उस फिल्मकार पर आरोप लगा कि उसने मूलकृति की आत्मा की हत्या कर दी और उस

कृति का कथ्य और शिल्प बिल्कुल बदल गया। परन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जिसमे मूलकृति उतनी अच्छी नहीं थी जितनी अच्छी उस पर फिल्म बनी। ऐतिहासिक अनुभवों से यह स्पष्ट है कि चलताऊ उपन्यास फिल्म निर्माण के लिए उपयुक्त ठहरते हैं और उन पर बनी कई फिल्में प्राय: सफल रही हैं जबकि श्रेष्ठ उपन्यासों पर बनी फिल्में बहुत कम हैं जिसमें अधिकांश बाक्स आफिस पर पिट गई हैं।

अधिकांश फिल्मकारों का मानना है कि साहित्यिक कहानियों का पर्दे पर रूपांतरण एक जटिल काम है।[1] यह इस माध्यम की प्रयोगशीलता की सीमाओं के कारण हो सकता है अथवा संभव है ऐसा न होने के पीछे फिल्मों की प्रेम कहानी का बाजार तन्त्र काम करता हो। साहित्यिक कृतियों पर बहुत सी अच्छी एवं सशक्त फिल्मों का निर्माण भी हुआ है। इसलिए ऐसा नहीं कह सकते कि अच्छी रचनाएँ पर्दे पर नहीं उतर सकती हैं।

फिल्म एवं धारावाहिक मूलत: अभिनय की विधाएं हैं। कमजोर कहानी भी अभिनय के सामर्थ्य से चल जाती है तथा सशक्त कहानी भी कुशल अभिनय के अभाव में चुक जाती है। अस्तु, पर्दे के लिए अभिनय महत्वपूर्ण है। फिल्म निर्देशक की कृति है। किसी अच्छी कहानी पर यदि कुशल निर्देशक फिल्म बनाता है तो उस अच्छी रचना पर श्रेष्ठ फिल्म बनती है। यदि निर्देशक कुशल नहीं है तो अच्छी-से अच्छी रचना पर भी बनी फिल्म प्रभावहीन होती है। अत: महत्वपूर्ण साहित्य पर ही श्रेष्ठ फिल्में बनेंगी यह सरलीकरण भी गलत है।

साहित्यिक रचनाओं पर भारत में अपेक्षाकृत कम फिल्में बनी हैं। जो बनी हैं उनमें कुछ को छोड़कर अधिकांश को अच्छी प्रस्तुति नहीं कहा जा सकता है। इससे उसके लेखक भी असन्तुष्ट थे। 'साहब, बीबी और गुलाम' को लेकर उसके लेखक विमल मित्र भी नाराज थे। उनका आरोप था कि उनकी रचना की आत्मा से खिलवाड़ हो गया।[2] बीच में कई जगह गानों को रखने के पक्ष में वे नहीं

---

1. Anthony Minghela (Director of the film "The English Patient" written by Michael Ondaatje) had, of course, heard stories of many Hollywood and British writers who had sought to translate the book to the big screen but had given up finding it to complex.

Artiele· Where the Novel stops and the Film begins by Arthur J Pais, Times of India Feb 23 1997

2. श्री श्रीश मित्र, फिल्म समीक्षक, जनसत्ता से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, द्रष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य' : योगेन्द्र प्रताप सिंह

थे। इस फिल्म के निर्देशक गुरुदत्त का इस आरोप के उत्तर मे कहना था कि कहानी लिखते समय लेखक के पास कहानी के विस्तार एवं उसकी अभिव्यक्ति की असीम संभावनाएं होती हैं। लेकिन उस कहानी पर फिल्म बनाते समय उन सभी कल्पनाओ को दृश्य देना पड़ता है। यह निश्चित ही एक चुनौती भरा काम है। इसमें मात्र कल्पना ही नहीं करनी होती है अपितु उसके दृश्यांकन के लिए तथा उस दृश्यांकन में गति एवं सन्तुलन बनाए रखने के लिए थोड़ा हेर फेर करना पडता है।[3] ऐसा बहुत कम है कि किसी साहित्यिक कृति को पढ़ने एवं उस पर बने फिल्म अथवा धारावाहिक को देखने का अनुभव एक ही हो। किसी साहित्यिक कृति की हूबहू दृश्य प्रस्तुति नीरस भी हो सकती है। । ऐसा 'गोदान' पर बनी फिल्म को देखकर प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

फिल्मांकन करते समय कहानी के विस्तार की भी आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण स्वरूप हम आशापूर्णा देवी की 'हजार चौरासी की माँ' पर गोविन्द निहलानी द्वारा बनाए गए फिल्म को ले सकते हैं। हजार चौरासी की माँ में जहाँ कहानी खत्म होती है उससे आगे जाकर गोविन्द निहलानी ने कहानी को विस्तार दिया। उन्हें लगा कि इस बिन्दु पर कहानी खत्म कर देने से फिल्म प्रभावहीन हो जाएगी और उसके आगे कहानी में कुछ जोड़ना उन्होंने आवश्यक समझा। इसी प्रकार दूरदर्शन से प्रसारित लोकप्रिय धारावाहिक 'चन्द्रकान्ता' का उदाहरण ले सकते हैं। बाबू देवकीनन्दन खत्री की लिखित मूल 'चन्द्रकान्ता' एक सीधी-सादी रोमानी प्रेमकथा है और बाइसवें बयान के बाद चन्द्रकान्ता का कुँवर वीरेन्द्र सिंह से व्याह हो जाता है और कहानी खत्म हो जाती है। किन्तु 'चन्द्रकान्ता' धारावाहिक में कहानी को और आगे बढ़ा दिया गया है। धारावाहिक के इस कहानी का विस्तार प्रभाव की अपेक्षा व्यावसायिक दबाओं के कारण अधिक है। निर्देशक के समक्ष दृश्य एवं उसका प्रभाव रहता है। निर्देशक की उंगलियाँ दर्शक की संवेदना पर होती हैं। इसलिए वह बराबर सचेत रहता है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि निर्देशक उस मूल कृति एवं कृतिकार के समक्ष अपने व्यक्तित्व का विलयन न होने देने का प्रयत्न करता है जिसके कारण भी वह कृति मूल कृति से भिन्न स्वरूप ग्रहण कर लेती है। कभी-कभी जल्दबाजी और अज्ञानतावश अति उत्साही निर्देशक मूल कथानक को तोड़-मरोड़कर हास्यास्पद बना देते हैं और फिल्म द्वारा संप्रेषित प्रभाव, मूल से बिल्कुल भिन्न हो जाता है। आज तक पूरे विश्व में अनेक प्रयासों के बावजूद एक भी फिल्म नहीं बन सकी जो 'अली बाबा और चालीस चोर' का फिल्मीकरण उसके मूल की तरह रोमांचकारी ढंग से कर पायी हो या सिंदबाद की यात्राओं

---

3 श्री श्रीष मिश्र, फिल्म समीक्षक, जनसत्ता से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, द्रष्टव्य 'संचार माध्यम बनाम साहित्य' - योगेन्द्र प्रताप सिंह

का असली लेखा-जोखा पेश कर पायी हो। पता नहीं, निर्देशकों का कौन सा अहं उसे डस लेता है कि अपनी प्रभुता स्थापित करने के चक्कर में 'अरेबियन नाइट्स' सरीखी कथा-मालाओं तक की हत्या कर डालते हैं जिनमें कथ्य परिवर्तन कोई आवश्यक नहीं है, और रोमांचक फिल्मो के लिए वे मुफीद कच्चा माल हैं।[4] पर्दे पर रूपांतरित कृति का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि साहित्यकार निर्देशक को अपनी रचना से छेड़-छाड़ की कहाँ तक अनुमति देता है।

फिल्म अथवा धारावाहिक के लिए आधारभूत रचना पटकथा है। फिल्मांकन के लिए सर्वप्रथम पटकथा की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य सरल हो अथवा जटिल, सामान्य हो या महान् फिल्मों में परिवर्तन हेतु उसे पहले जिस रूप में ढलना पड़ता है, वह है -पटकथा। पटकथा लिखे-छपे साहित्य को चित्रों में गढ़ने की भाषा है, और जटिल तकनीक प्रक्रिया है। यह जितनी सशक्त रहेगी, फिल्म उतनी ही प्रभावशाली बनेगी। यह फिल्म के निर्देशक और पटकथा लेखक की परिपक्वता और दृष्टि पर निर्भर करता है कि फिल्म अपने मूल साहित्य का निर्वाह नए व्याकरण मे कर पायी है अथवा नहीं। परिपक्वता सिर्फ निर्देशक और पटकथा लेखक की हैसियत से नहीं, बल्कि मूल साहित्य को समग्रता में समझने की परिपक्वता, ताकि फिल्म पाठक के मन मे रची-बसी मूल साहित्य की तमाम छवियों का प्रतिनिधित्व कर पाए। यह एक कठिन चुनौती है, और साहित्य की इस चुनौती के आगे बड़े-बड़े फिल्म निर्देशक धराशायी होते दिखे हैं, चाहे प्रेमचन्द को फिल्माते सत्यजीत राय हों या डोमिनिक लापिए को फिल्माते रोलैण्ड जौफे।[5]

कथा से पटकथा बनाने में न केवल कथा के विन्यास मे से दृश्य चुनने या बनाने पडते हैं बल्कि उन दृश्यों की परिकल्पना इस तरह करनी पडती है कि जिससे प्रभावोत्पादक नाटकीयता पैदा की जा सके। धारावाहिक में एक प्रभावोत्पादक कथा के साथ-साथ ऐसी पटकथा की संरचना जरूरी हो जाती है जो दर्शक से सीधे-सीधे बिना किसी व्यवधान के रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। धारावाहिक की पटकथा संरचना इस मायने में किसी कहानी के नाट्यरूपांतर के काफी नजदीक बैठती है किन्तु कैमरे की कला होने के कारण वह नाटक की संरचना से भी थोडी अलग और विशिष्ट बन जाती है। यह बहुत कुछ पारंपरिक रससिद्धान्त के साधारणीकरण को अपना आधार बनाकर चलती है जो बहुत कुछ फिल्मों से मिलता-जुलता तत्व है। इसलिए यदि दूरदर्शन के धारावाहिकों की शुरूआत ने

---

4 'सिनेमा-कुछ नोट्स', सजम सहाय, आजकल, जनवरी 1996, पृष्ठ 8-9

5 'सिनेमा- कुछ नोट्स', सजस सहाय, आजकल, जनवरी 1996, पृष्ठ 8-9

बम्बई के फिल्मोद्योग को बड़े पैमाने पर आकर्षित किया तो कोई अचरज की बात नहीं।[6] धारावाहिक मूलतः कथानाट्य होने के कारण एक ही वक्त में कथा भी है और नाटक भी। किन्तु छोटे पर्दे पर फिल्माए जाने के कारण वह इन दोनो से अलग भी नज़र आता है। इसका असली उपजीव्य जनरुचि के अनुकूल लोकप्रिय फार्मूला होता है। उसमे नाटकीयता का तत्व अनिवार्य और पर्याप्त होता है क्योकि नाटकीयता से ही वह सम्प्रेषणीय बनती है। 'राग दरबारी' धारावाहिक की असफलता का एक बड़ा कारण उसमें नाटकीय तत्वों का अभाव था। राग दरबारी उपन्यास मे नाटकीय स्थितियों की कोई कमी नहीं हैं किन्तु फिल्माए जाने में वे नाटकीय तत्व हू-ब-हू आकर व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसा भी हुआ इसके लिए जरूरी है कि सिर्फ कथा का दृश्यानुसरण न किया जाए, बल्कि प्रस्तुति की जरूरत के मुताबिक दृश्यों की कल्पना की जाए। यहीं कथा से पटकथा महत्वपूर्ण हो जाती है और पटकथा की रचना प्रक्रिया नाटक लिखने की रचना प्रक्रिया जैसी होते हुए भी उससे काफी अलग और स्वतंत्र हो जाती है। इसलिए जिस आसानी से कोई कथाकृति नाट्य रूप में ढाली जा सकती है, मंचित की जा सकती है, उतनी आसानी से उसे धारावाहिक रूप मे नहीं ढाला जा सकता है।[7]

छोटी कहानियो पर भी पूरी लम्बाई की फीचर फिल्म बनाने के अनेक प्रयास होते रहे हैं, पर पटकथा के बिखराव की वजह से अधिकतर मामलों में ये निरर्थक सिद्ध हुए हैं।[8] रचना के पर्दे पर खास कर फिल्म मे रूपांतरण की समस्या आज-कल कुछ और ही है। आज-कल फिल्मो के लिए कहानियाँ लिखते समय, रचना के चयन करते समय यह भी ध्यान रखा जाता है कि अभिनय किसे करना है अर्थात् अभिनेता और अभिनेत्रियॉ कहानी से ज्यादे महत्वपूर्ण हो जाते हैं। यह किसी फिल्म के अत्यत सफलता के आधार पर उसकी दूसरी फिल्म से लाभ की आकांक्षा के दबाव में होता है। इससे अच्छी रचनाएँ फिल्मांकन से बच जाती हैं और फिल्मांकन का व्यवसाय माँग-पूर्ति पर आधारित होकर दर्शक को उपभोक्ता के रूप में खड़ा करता है।

किसी कृति के पाठक फिल्म अथवा धारावाहिक के दर्शको की तुलना में कम होते हैं तथा रचनाओं के पाठक उस रूप में नहीं होते है जैसे कि लोकप्रिय फिल्मों के दर्शक। किसी दो भिन्न उपन्यासों में किसी घटना एवं दृश्य का साम्य उस उपन्यास की कथा के साधारणीकरण मे अवरोध नहीं

---

6 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 72

7 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी पृष्ठ 115

8 'सिनेमा-कुछ नोट्स', सजस सहाय, आजकल, जनवरी 1996, पृष्ठ 8 स

उत्पन्न करता जबकि किसी दो फिल्मो मे बिल्कुल एक सी घटनाएँ, दृश्य और उनकी प्रस्तुति उचित नहीं होती। फिल्म के निर्माता एव निर्देशक इसके प्रति सचेत रहते हैं। किसी रचना के पटकथा लेखन से फिल्म बनते समय एक लम्बा कालखण्ड लगता है। इसी बीच यदि किसी अन्य फिल्म में उसके किसी भाग की प्रस्तुति हो गई तो निर्देशक पटकथा मे परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करता है। इस कारणवश भी किसी रचना के पर्दे पर रूपांतरण मे मूल कृति से कुछ परिवर्तन करना पड़ता है।

इन सभी कारणों से फिल्मकारों एवं धारावाहिक निर्माताओ को किसी साहित्यिक कृति का फिल्मांकन जटिल कार्य लगता है और वे साहित्यिक कृतियो के फिल्माकन से कतराते हैं। यदि वे किसी कृति पर फिल्म बनाना चाहते हैं भी तो वे फिल्म अथवा धारावाहिक के लिए उस कथा का उपयुक्तता की दृष्टि से आँकलन करते हैं एवं फिल्मों के लिए सटीक लगती पटकथाओ की ही तलाश में रहते हैं। फिल्म एवं धारावाहिक कम्यूनिकेशन का मँहगा माध्यम होने की वजह से निर्माता भी जोखिम उठाने से बचते हैं। धारावाहिकों के प्रायोजक मिल भी गए तो ऐसी फिल्म के निर्माताओं का अभाव रहता है।

जहाँ तक छोटे पर्दे का सवाल है वहाँ प्रायोजक सस्कृति का प्रभुत्व होने के कारण धारावाहिकों का निर्माण किसी निश्चित लोकप्रिय फार्मूले के तहत होता हैं। जाहिर है इस फार्मूलेबाजी से वहाँ कोई सच्ची रचना संभव नहीं हो पाती। खासकर 'रचना' को परिनिष्ठित साहित्य मे जिस रूप में जाना जाता है वैसी रचना का वहाँ जन्म नहीं दिया जा सकता। अगर कोई रचना वहाँ प्रस्तुत भी की जाती है तो वह भी लोकप्रियता के मानको के आधार पर यथावश्यक काट-छाँट कर प्रस्तुत की जाती है। यकीनन इससे रचना के सौन्दर्य की क्षति होती है। किन्तु क्या यह क्षति रचना के लिए सिर्फ नकारात्मक ही हो सकती है या किसी वक्त सकारात्मक भी हो सकती है? इसका जवाब भी तभी खोजा जा सकता है जब हम 'सीरियल' और कथा के बनने वाले संबंधों को दूरदर्शन की मौजूदा उपभोक्तावादी संस्कृति से 'कन्फ्यूज' करके न देखें। फिल्मों में भी प्रसिद्ध कथाकृतियों को लिया गया है और कम-से-कम हिन्दी के अनेक नाटक मूलत: कथा-कहानी के नाट्य रूपांतर में प्रस्तुत किए जाते हैं। क्या फिल्म या रंगमंच ली गई कथा को अपने विशिष्ट माध्यम की प्रक्रिया में पर्याप्त रूप मे नहीं बदलते? क्या हर बार फिल्मों में रचना की नकारात्मक क्षति ही होती है? क्या नाटकों में हर बार कथा की सकारात्मक क्षति होती है? सत्यजीत रे ने प्रेमचन्द की कहानी 'सद्गति' को टेलीफिल्म के रूप में बनाया तो क्या यह नकारात्मक क्षति हुई। या 'कभी न छोडे खेत' (जगदीश चन्द) का एम रैना द्वारा किया गया नाट्य रूपांतर कोई नकारात्मक क्षति कही जा सकती है? इसके उलट क्या 'राग दरबारी' जैसी कथाकृति पर बनाये गये सीरियल ने कृति को कोई सकारात्मक क्षति पहुँचाई? जाहिर है कि

लिखित कथा साहित्य जब भी मच पर या फिल्म टेलीविजन मे प्रस्तुत किया जायेगा, उसमे नये माध्यमों की संरचनात्मक जरूरतों के हिसाब से कुछ अनिवार्य संशोधन करने ही होंगे। इन संशोधनो से लिखित कृति किसी अर्थ में भी 'निगेट' या 'नष्ट'' नहीं होती। इन प्रस्तुतियों के बाद वह वैसी ही मौजूद रह सकती है जैसी कि पहले थी।[9] टी० वी० या सिनेमा जब किसी कहानी या उपन्यास को अपने माध्यम में ढालने की कोशिश करते हैं, तो वह कोशिश मूल रचना की जगह लेने की नहीं होती बल्कि अपने माध्यम की शर्तों पर वह एक नई सर्जना होती है। एक तरह से यह ऐसा सर्जनात्मक भाषान्तर है, जिसकी तुलना एक हद तक काव्यानुवाद से की जा सकती है। सत्यजीत राय की 'सद्गति' और मृणाल सेन की 'कफन' पर निर्मित फिल्म' ऐसे ही सर्जनात्मक प्रयास हैं।[10]

इस काम में जोखिम तो है परन्तु यदि इन कठिन मार्गों को पार कर निर्देशक अपने विषयानुसार (सरल हो अथवा जटिल) मूल साहित्य का निर्वाह सही ढंग से कर पाते हैं तो 'साहब बीबी और गुलाम', 'तमस', 'तर्पण' या 'गाइड' जैसे अनेको अद्भुत नतीजे सामने आते हैं। इन फिल्मों में भी मूलकथा में कहीं-कहीं फेर-बदल किया गया है, पर मृल की आत्मा को ठेस नहीं पहुँचाई गई है। यह निर्देशकीय अहं न होकर स्वरूप परिवर्तन की आवश्यकता ही लगता है। पर यदि यह तमीज न हो, फिर भी निर्देशक साहित्य से मनमाने तरीके से छेडछाड करते हो तो मूर्खतापूर्ण नतीजें ही सामने आएंगे।[11] इससे बचने के लिए आवश्यक है कि साहित्यिक रचनाओ को पूरे सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत किया जाए एवं केवल पुनरावृत्ति और अनावश्यक भर्ती के अंशों को निकाला जाए वह भी लेखक के सहयोग से।[12]

अन्तत: हम कह सकते हैं कि विभिन्न संचार माध्यमो में किसी साहित्यिक रचना की उल्था भी उस मूलकृति का एक प्रकार से पुनर्सृजन है। गड़बड तब होता है जब मूल रचना अदूरदर्शी हाथों में पड़ जाती है। लेखक अपने प्रवाह में लिखता है। यदि वह उपन्यास नहीं लिख रहा है तो भी वह अधिक-से-अधिक उसे वह पर्दे के लिए नाट्य शैली या सवाद शैली में लिख सकता है। वह कैमरे की भाषा से अनभिज्ञ रहता है। उसके बाद प्रस्तुति की चिन्ता निर्देशक की हो जाती है। यदि लेखक और

---

9 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 114

10 नामवर सिंह द्वारा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 46 वें अधिवेशन में बम्बई मे किए गए भाषण मे, साभार सम्मेलन पत्रिका, पृष्ठ 87

11 'सिनेमा-कुछ नोट्स', सजय सहाय, आजकल, जनवरी ९६, पृष्ठ ९

12 सरोकार गिरिराज किशोर, पृष्ठ 72

निर्देशक के दृष्टिकोणों मे अन्तर है, तो मूल कृति एवं उमकी माध्यम प्रस्तुति मे निश्चित ही एक अन्तराल उपस्थित होता है। माध्यम से प्रस्तुत रचना मूलत: निर्देशक की रचना हो जाती है। निर्देशक भी साहित्यकार की तरह सर्जक होता है साहित्यकार द्वारा लिखित रचना को जब तक वह पूरी तरह से धारण नहीं करेगा तब तक वह उसे कैमरे की भाषा मे अनूदित नहीं कर सकेगा। एक सृजनशील निर्देशक सोचता है कि किस छवि एवं दृश्य को कैसे प्रस्तुत करना है। साहित्यकार एवं निर्देशक की दृष्टियों का यदि तादात्म्य हो जाए तो निश्चित ही श्रेष्ठकृति निर्मित होगी [13] और उस मूल कृति की आत्मा की हत्या का उस पर आरोप नहीं लगेगा। अत: यह इस पर निर्भर करता है कि किस थीम को कैसा लेखक मिलता है और किस कृति को कैसा निर्देशक।

---

13 नरेन्द्र कोहली से लिया गया व्यक्तिगत साक्षात्कार, दृष्टव्य 'मचार माध्यम बनाम साहित्य' · योगेन्द्र प्रताप सिंह

अध्याय - सात

कविता एवं सम्प्रेषण साहित्य एवं माध्यम

अध्याय - सात

कविता एवं सम्प्रेषण के माध्यम

कविता अनुभूति की सार्थक अभिव्यक्ति है जो व्यक्ति का आत्मविस्तार करती है और सर्जनात्मक तथा संवेदनीय होती है। कविता के शब्द एवं भाव वैयक्तिक होते हैं किन्तु सम्प्रेषित होकर स्वान्त: सुखाय होने के बावजूद वे सार्वजनीन और शाश्वत हो जाते हैं, यदि उसमें इसकी सभावना हो। संप्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि कविता पाठक या श्रोता के लिए ग्राह्य हो एवं उसे सहृदय तक पहुँचने के लिए उचित साधन या माध्यम मिले। बदलते विकासात्मक परिप्रेक्ष्य मे कविता के सम्प्रेषण के विविध माध्यम मिले हैं। पहले कविता केवल सुनी और पढी जाती थी अब कविता आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से सुनी-देखी जा सकती है। इतना ही नहीं आज इन्टरनेट पर भी काव्यगोष्ठी संभव है, जहाँ कविता पढ़ने का कुछ अलग ही अनुभव है। विभिन्न संचार साधनों एवं माध्यमों केसाथ कविता का रिश्ता किस तरह रूपायित हुआ हैं एवं इसने कविता को किस तरह प्रभावित किया है प्रस्तुत लेख में इसका विवेचन अभिप्रेत है।

विभिन्न माध्यमों से कविता का सरोकार

श्रुति परंपरा में कविता महत्वपूर्ण थी और काव्य साहित्य का पर्याय था। छन्दोबद्ध रचना स्मरण के उपयुक्त होती है इसलिए सभी प्राचीन वाङ्मय छन्द मे ही रचे जाते थे। साहित्य (काव्य) के लिए छन्द अनिवार्य था। छन्दों में वाङ्मय की ज्ञानराशि के साथ रचने का भी अनुभव निहित रहता था। वेदों की ऋचाएँ तत्कालीन समाज की काव्यमय अभिव्यक्तियाँ हैं, जिसमें ज्ञान एवं कविता दोनों मंत्रबिद्ध हैं। उपनिषदों को दार्शनिक गीतों का संग्रह कहते भी हैं। हिन्दी में परंपरा से प्राप्त एवं अर्जित छन्दों का विपुल भंडार है।

मुद्रण कला के विकास से इसमें एक परिवर्तन घटित हुआ। इसने काव्य रचना में प्रयोगशीलता में विविध आयामों को उद्घाटित किया। जहाँ वाचिक परंपरा मे कविता के लिए छन्द अपरिहार्य था, वहीं मुद्रण के प्रादुर्भाव से कविता के लिए छन्द की अपरिहार्यता समाप्त हो गई अथवा यह कहें कि छन्द का पारंपरिक विधान बदल गया और छन्द के रजत पाश से मुक्ति की चर्चा शुरु हो गई। भाषा पर नए सिरे से विचार होने लगा। फलत: शब्द अपने पूर्ण शक्ति के साथ काव्य में प्रकट हुआ। इसलिए

अज्ञेय ने कहा कि "कविभाषा नहीं लिखता है शब्द लिखता है।"[1] इस स्थिति में कविता एव छन्द, दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। 'वाचिक से पठित' (छपी हुई) कविता तक आने में काव्य का स्वरूप बदला, इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि कविता को नया छन्दशास्त्र मिल गया या मिला नहीं तो मिलने की सम्भावना भी हो गई और अनिवार्यता भी। उससे अधिक महत्व की बात है कि नये छन्द ने उस वस्तु को भी प्रभावित किया जो उस छन्द मे निवद्ध थी: वस्तु और रूप के अभिन्न सम्बन्ध का पूरा आशय यही है कि दोनों पक्ष दोनो को बदलते और अपने अनुकूल ढालते हैं।" (अज्ञेय, भवन्ती से)[2] यह कहना अनुचित न होगा कि मुद्रण के अभाव मे कविता मितकथन एव उस भाषिक संरचना से वंचित रह जाती जिसमें निराला, अज्ञेय, शमशेर आदि कवियों ने उत्कृष्ट काव्य रचनाएँ की हैं।

कविता एवं नाटक

नाटक एक सशक्त माध्यम है। नाटक अथवा रगमच को कविता की ऊँचाई तक पहुँच जाने के कारण साहित्यकारों द्वारा इसे 'दृश्यकाव्य' कहा गया। नाटकों में कविता अभिनय, कहानी आदि की तरह अनुषंग के रूप में ही रहती है। किन्तु कुछ नाटको ने साहित्य जगत् को श्रेष्ठ कविताएँ भी दी हैं। दुनिया के महान् कवि शेक्सपियर ने अधिकांश अमर कविताएँ नाटकों के माध्यम से लिखी हैं। कविता से प्रेरणा लेकर कतिपय गीति नाट्य भी लिखे गए हैं जिनमे कवित्व, नाटकीयता एवं प्रतीकात्मकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। फिर भी कुछ रचनाओ को छोडकर अधिकाश नाटकों में कविता घटक के रूप में ही उपस्थित रहती है और इसमें कविता स्वतन्त्र इयत्ता नहीं ग्रहण कर पाती है।

कविता एवं पत्रकारिता

कविता की विकास यात्रा में पत्र-पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कविता एवं उसकी आलोचना पत्र-पत्रिकाओं के लिए आवश्यक सामग्री रही है। प्राय: काव्य आन्दोलनो का सूत्रपात पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित काव्य चर्चा एवं समीक्षा के आधार पर ही हुआ है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने गद्य एवं पद्य दोनों के लिए हिन्दी भाषा के प्रयोग की चुनौती का सामना 'सरस्वती' (मासिक) के माध्यम से ही किया। इन्होने जून 1900 ई० की 'सरस्वती' मे प्रकाशित 'हे कविते' शीर्षक वाली अपनी कविता

---

1 'अज्ञेय' सम्पादित विद्यानिवास मिश्र के परिशिष्ट 'ग' से (पृष्ठ 139)

2 अज्ञेय, सम्पादित विद्यानिवास मिश्र के परिशिष्ट 'ग' पृष्ठ 143 से उद्धृत

में जनरुचि का प्रतिनिधित्व करते हुए सौरम्य एवं वैविध्य के अभाव तथा ब्रजभाषा के चिर-प्रयोग पर अपना क्षोभ प्रकट किया था। सन् 1903 ई० मे 'सरस्वती' का सम्पादक हो जाने पर उन्होने नायिका भेद को छोड़कर विविध विषयों पर कविता लिखने, सभी प्रकार के छन्दो का व्यवहार करने, सभी काव्यरूपों को अपनाने का रचनात्मक आदोलन चलाया तथा गद्य और पद्य भाषा के एकीकरण का परामर्श दिया।[3] आचार्य द्विवेदी ने कवि एवं कर्त्तव्य निबन्ध मे लिखा था-चीटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत-सभी पर कविता हो सकती है। परिणामत: जीवन और जगत् के सभी दृश्य और पदार्थ कविता के विषय बनने लगे।[4] पत्र - पत्रिकाओ के द्वारा उनके इस सदुद्योग से कविता मे विषय की दृष्टि से अपार वैविध्य एवं नवीनता आई। 'कविता क्या है? (सरस्वती 1908 ई) और 'साहित्य' (सरस्वती 1914) जैसे कविता के आधार भृत प्रश्नों पर चर्चा सर्वप्रथम पत्रिकाओ में ही हुई।

साहित्य के इतिहास में युगान्तर उपस्थित करने वाली 'जूही की कली' उस कवि की रचना है, जिसने 'सरस्वती' और 'मर्यादा' के फाइलो से हिन्दी सीखी, उन पत्रिकाओं के एक-एक वाक्य को संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी व्याकरण के सहारे समझने का प्रयाग किया।[5] हिन्दी की अनेकों श्रेष्ठ काव्य कृतियाँ सर्वप्रथम पत्र-पत्रिकाओ में ही प्रकाशित हुई अथवा आकाशवाणी से प्रसारित हुई। मुक्ति बोध की प्रमुख रचना 'अँधेरे में' का पहला प्रकाशन 'कल्पना' में 1964 ई० में 'आशंका के द्वीप : अँधेरे में'' नाम से हुआ ।[6]प्रयोगवाद से नई कविता मे जो रचनात्मक रूपांतरण क्रमश : हुआ उसे संभव करने में अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' का विशिष्ट योगदान रहा है।[7] 1950 में प्रतीक के लिये ही इन्होंने दिल्ली में रेडियो की नौकरी स्वीकार की और दो वर्षों तक इन्होंने अपने बूते पर पत्र को चलाया।[8] द्विवेदी युग और किसी सीमा तक छायावाद का रूप जैसे 'सरस्वती' में उभरा था कुछ वैसे

---

3 दृष्टव्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 नगेन्द्र ,पृष्ठ 488

4 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ 492

5 दृष्टव्य, हिन्दी साहित्य कोश, भाग दो, सम्पादित धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 651

6 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 237

7 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास ,राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 245

8. दृष्टव्य, अज्ञेय , विद्यानिवास मिश्र सम्पादित, पृष्ठ 16

ही छायावादोत्तर कृतित्व का प्रतीक में। सप्तक कवियों का अधिकतर महत्वपूर्ण प्रकाशन पहले प्रतीक में हुआ।[9]

नयी कविता आन्दोलन मे 'नयी कविता', 'आलोचना', 'कल्पना', 'माध्यम', 'क-ख-ग', 'ज्ञानोदय', 'आरंभ', 'निकष', 'नये पत्ते', 'पूर्वग्रह' आदि महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाओ का अनन्य योगदान रहा है। 'नई कविता' पत्रिका ने समकालीन कविता की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए 'कविता के नए प्रतिमान' का प्रश्न उठाया। नयी कविता की समीक्षा मे काव्य शास्त्रीय रस सिद्धान्त को असमर्थ पाकर कुछ रचनाकारों ने नये प्रतिमानो की खोज का प्रयास किया तो नगेन्द्र जैसे कुछ आलोचकों ने रस सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या की। इस काव्य आन्दोलन मे न सिर्फ साहित्यिक पत्रिकाओं ने भाग लिया बल्कि 'धर्मयुग' एवं 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी सामाजिक राजनैतिक पत्रिकाओं ने भी सहभाग लिया। रस के रूढ़ और शास्त्रीय अर्थ का परित्याग करके व्यापक अर्थ में उसे ''मानव व्यक्तित्व की सार्थकता की प्रतिति और सिद्धि'' के रूप मे प्रतिष्ठित करने वाले रस-सिद्धांत के नए प्रचारक डॉ० नगेन्द्र का एक निबन्ध ''छायावादोत्तर हिन्दी कविता: मूल्यांकन की समस्या'' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के 10 मार्च 1968 वाले अक मे छपा। 'तीसरा सप्तक' के कवि केदारनाथ सिह का एक निबन्ध '60 के बाद की हिन्दी कविता' धर्मयुग के 5 अगस्त 1965 के अक में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार काव्य संग्रहों एवं कविताओं की साहित्यिक समीक्षाएँ प्रकाशित कर सामाजिक, राजनैतिक पत्रिकाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि वे भी साहित्य से दूर नहीं हैं।

इस काम में प्रिन्ट मीडिया के अतिरिक्त आकाशवाणी की भी भूमिका कम नहीं रही है। 'नयी कविता' का नामकरण अज्ञेय द्वारा ही अपनी एक रेडियो वार्त्ता मे दिया गया, जो बाद में 'नये पत्ते' के जनवरी-फरवरी 1953 अंक में 'नयी कविता' शीर्षक से प्रकाशित हुई।[10] हिन्दी के अधिकांश कवि उस समय आकाशवाणी से जुड़े हुए थे।

कालान्तर में पत्रकारिता मे विशेषीकृत पत्रकारिता का प्रादुर्भाव हुआ जैसे राजनैतिक पत्रकारिता, विकास पत्रकारिता, विधि पत्रकारिता, खेल पत्रकारिता, विज्ञान पत्रकारिता आदि। इसकी वजह से एवं पत्रकारिता जगत पर बाजार तन्त्र के हावी हो जाने से साहित्यिक पत्रकारिता पूर्णत:

---

9. हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, राम स्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 246

10 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ 276

विशेषीकृत हो गई, साहित्य कुछ परिशिष्टों तक सीमित हो गया। फलत: पत्र-पत्रिकाओं मे कविता को जहाँ महत्वपूर्ण स्थान मिलता था, उसका अधिकाश स्थान पत्रकारिता की अन्य विधाओं यथा फीचर रिपोर्टिंग, फोटोग्राफी आदि ने ले लिया। पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित रचनाओ मे समसामयिक कविता की आलोचना का स्थान कम हो गया। इन कारणों से अधिकाश साहित्यकारो ने सीमित ससाधन एव पाठक वर्ग के बीच पत्रकारिता का एक अलग रास्ता निकाला जिसको लघुपत्रिका के रूप में हम देखते हैं। इसमें सिवान (बिहार) से प्रकाशित 'अद्यतन' जैसे कुछ नियत कालिक केवल कविता के लिए ही निकल रहे हैं। साहित्य समृद्धि की दृष्टि से इनका अमूल्य योगदान भुलाया नहीं जा सकता। समसामयिक पत्रकारिता में "सम्पादक के नाम पत्र" स्तंभ मे कुछ कविताओ के प्रकाशन की प्रवृत्ति भी रेखांकित करने योग्य है।

विभिन्न माध्यमों से काव्य पाठ

कविता "स्वान्त सुखाय" लिखी गई रचना है, ऐसा प्राय: सभी मानते हैं। किन्तु कवि एवं सहृदय के उभयनिष्ठ अनुभूतियों के कारण कविता सहृदय तक सप्रेपित होकर उसे भी आनन्द प्रदान करती है। काव्य पाठ मात्र से काव्य सम्प्रेपित नहीं हो जाता है। कविता पाठ के लिए उपयुक्त वातावरण चाहिए जैसा कि हर कला में सम्प्रेषण के साथ होता है। काव्य पाठ के भीतर कई शक्तियाँ एक साथ सक्रिय होती हैं। कई क्रियाएँ एक साथ चलती हैं। रचना के साथ पाठ करने वाले के मार्मिक संबन्ध का बन जाना, फिर उसके साथ कहने वाले के सुर का लग जाना और सबोधित भावक के मन का तैयार होना ये काव्य निवेदन की पूर्व शर्तें हैं। इसलिए उपहास की वस्तु नहीं हो सकती। जिस तरह काव्य कर्म कुछ न्यूनतम साधनों की दरकार रखता है उसी तरह काव्य निवेदन को भी आवश्यक साधन चाहिए।[11] काव्य पाठ मे कवि भावक की प्रतिक्रियाएं ग्रहण करते हुए सम्पूर्ण मानसिक एवं तदनुरूप आवश्यक मुद्रा अर्थात् कायिक शक्ति के साथ काव्य निवेदन करता है। संभवत: इसी को रेखांकित करते हुए रुपसन ने कहा कि कविता पाठ के लिए मास पेशियो की ऊर्जा सबसे महत्वपूर्ण है।[12] प्रत्यक्ष काव्य पाठ की बजाय कवि एव भावक के बीच किसी सम्प्रेषण के माध्यम आ जाने से कवि एवं भावक दोनों की मन:स्थिति बदल जाती है। इस अन्य तीसरे माध्यम की उपस्थिति से कविता का प्रभाव बदल जाता है। छोटी काव्य गोष्टियो एवं कवि सम्मेलनो मे कवि को भावक की प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ

---

11 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 121

12 कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिह, पृष्ठ 129

मिलती रहती हैं और वह उस समय के परिवेश के मूड को ध्यान मे रखकर काव्य निवेदन करता है। दूरदर्शन एव आकाशवाणी से कविता पढते समय श्रोता उसके समक्ष नही होते है, उसकी कविता पर उसे प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएँ नहीं मिलती हैं। मीडिया विशेषज्ञ सुधीश पचौरी इसे आह और वाह से मुक्त का काव्य पाठ कहते हैं। 'हम जो लोग छोटी-छोटी काव्यगोष्ठियो के आदी हैं, जब वैसी ही कविता को मंच से सुनते हैं या टीवी से प्रसारित होते देखते हैं, तब भी काव्यपाठ की प्रक्रिया चलती रहती है। अधिक सजग कवि उसका ध्यान रखते हैं और जो कविता के पाठ का मर्म समझते है में वे हर बार कविता का भाव-विस्तार करते हैं। कविता लिखते वक्त जो होती है, ठीक वैसी फिर कभी नहीं रहती। वह कविता विकास करती रहती है। वह जड यदि नही बनी है तो चेतन की तरह सक्रिय और परिवर्तित रहती है। बुरी कविता में यह सब नहीं घटेगा। वह विकसित नहीं होती। यानि जो चेतन को जड़ बना दे वह कविता से रिक्त पद्य भर होती है।[13] इस प्रकार काव्य पाठ से कविता विकसनशील रहती है।

कवि सम्मेलनों में साहित्य का व्यावसायिक पक्ष उभरता है। कुछ ऐसी ही स्थिति फिल्म दूरदर्शन का भी है। इनका सम्बन्ध मनोरंजन के साथ जुड जाने से इनमे पसन्द की जाने वाली कविताएँ उच्च साहित्यिक स्तर की नहीं होती हैं। उदात्त भावना को समूह आसानी से ग्रहण नही करता। समूह को तो चाहिए तत्काल उसके मन को छू लेने वाली भावना। लय-छन्द के साथ-साथ इस तत्काल मन को छू लेने वाली भावना को और भी कुछ अधिक साधन चाहिए। इन साधनो मे महत्ता मिलती है सुरीले कंठ को, मंच पर सफल अभिनय को तथा जनता को उकसाने वाले अथवा हँसाने वाले विषयो को।[14] इस प्रकार की कविताओं में कवि वाह-वाही की अपेक्षा रखता है और श्रोता कवि से कविता मे मुग्धकारी मोड़ों की अपेक्षा रखते हैं। वाह-वाही की अंधी गली में कवि के भटकने एवम् सर्जनात्मकता से चुकने के खतरे बढ़ जाते हैं और इस स्थिति मे वे सतही काव्यरुचि को प्रदर्शित करने लगते हैं। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा कि "हर बात में 'अहा हा! कैसा मनोहर है! कैसा आह्लादजनक है' जैसे भावोद्‌गार भद्‌देपन से खाली नहीं, और काव्य शिष्टता के विरुद्ध हैं।"

वह कविता जो भाषा की उत्कृष्टतम उपलब्धि है सुधी पाठक की अपेक्षा रखती है। इस दृष्टि से क्लासिकल रचना हो जाती है। किन्तु संचार माध्यम की प्रकृति जन माध्यम की है। इस परिस्थिति में

---

13. मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 121

14 साहित्य की मान्यताए, भगवती चरण वर्मा, पृष्ठ 81

क्लास की रचना को मास में संप्रेषित होने की समस्या है। उच्च काव्य बोध एवं केवल मनोरंजन की दृष्टि से लिखी कविताओ का एक ही मंच से काव्य पाठ उच्च काव्य बोध की रचना को हतोत्साहित करता है। "शुरू-शुरू में दूरदर्शन मे ऐसे कवि सम्मेलन भी आए है कि एक साथ दोनों तरह की कविता पढ़ी गई है। इससे समस्या पैदा हुई है। हुल्लड मुरादाबादी, स्व० काका हाथरसी के साथ स्व० श्रीकान्त वर्मा, स्व० रघुवीर सहाय या नागार्जुन काव्यपाठ करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे हम चाट की दुकान और मरीजों की ओपीडी के दर्शन बारी-बारी से कर रहे हो। एक क्षण हुल्लड़, कुल्हड प्रभृति चुटकुले सुनाएगें; दूसरी ओर पुस्तकीय कवि 'गंभीर' बनकर कुछ ऐसा पढेगे जो जल्दी समझ न आएगा।[15] इसलिए पठनीय परंपरा की गंभीर रचनाओ के लिए छोटी शिष्ट काव्यगोष्ठियाँ ही उपयुक्त होती हैं अथवा एकल काव्यपाठ वाली गोष्ठी उपयुक्त होती है।

आकाशवाणी साहित्य की दृष्टि से गंभीर माध्यम है। आकाशवाणी ने कविता के सभी रूपो को संपोषित किया है। आकाशवाणी पर सभी प्रकार के काव्यरुचियो के काव्य पाठ सुनने को मिल जाते हैं। इस कारण से आकाशवाणी पर जनरुचि को विकृत करने का आरोप नहीं लगता है। कोई विरला ही कवि होगा जिसने आकाशवाणी से काव्यपाठ न किया हो। 'यों तो किसी भी माध्यम के लिए की जाने वाली रचना में शिथिलता का दोष नहीं होना चाहिए किन्तु रेडियो के लिए लिखी गई रचनाओं में प्रवाह का होना बड़ा जरूरी है। यहाँ तात्पर्य केवल भाषा के प्रवाह से नहीं है वरन् उसके माध्यम से सम्प्रेषित किए जाने वाले विचारो और बिम्बो के प्रवाह से भी है। हिन्दी मे आज भी यह कमी बनी हुई है। अकसर एक ही बिम्ब अथवा विचार उपस्थित कर लेने के बाद कविता वहाँ से आगे नहीं बढती, केवल शब्दों की संख्या और उसका कलेवर बढ़ता है। किन्तु रेडियो के लिए लिखते हुए इस प्रकार के विचार प्रवाह को बनाए रखना न केवल अपनी रचना की सार्थकता सिद्ध करना होता है, वरन् इस नए प्रसार साधन की उपयोगिता को भी बढ़ाना होता है।[16]

दूरदर्शन पर काव्य रुचि ही क्या अपसांस्कृतिक दूषण के भी गभीर आरोप लगते हैं। यह कुछ हद तक सही भी है। दृश्य माध्यमों ने साहित्य के प्रसार मे सहयोग अवश्य दिया है परन्तु साहित्य के साथ न्याय नहीं किया है। जब दूरदर्शन कविता पर सदय होता है तो उसकी नजर में वह कविता आती है जो सहज ही उपभोज्य हो जाए यानि जो हिट हो सके। लोगों की वाहवाही जिसे मिल सके, जो

---

15 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 118

16. सर्जन एवं सम्प्रेषण, सच्चिदानद हीरानद वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृष्ठ 97

कवि मंच लूटकर ले जाने में माहिर हो जाते है, वे ही दूरदर्शन पर जरूरी मान लिए जाते हैं। इससे जाहिर होता है कि दूरदर्शन ने एक माध्यम के रूप मे कविता से कोई सबंध नहीं बनाया बल्कि मंच से संबंध बनाया। मंच लाल किले और चौके चौराहे से उठकर दूरदर्शन मे आ गया। माध्यम की ऐसी निष्क्रियता ने एक ऐसी कविता और कवि व्यक्तित्व को पापुलर बनाया जो मूलत: पद्यकार और तुकबंदीकार था, जहाँ काव्य नहीं था, जहाँ समाज की चिन्ताएँ नहीं थीं।[17] सुधीश पचौरी जी की यह टिप्पणी निश्चित ही सत्य है क्योकि दूरदर्शन मात्र स्वाधीनता दिवस, गणतत्र दिवस, होली, नये वर्ष की पूर्व सन्ध्या आदि अवसरों को ही काव्य गोष्ठी के लिए उपयुक्त समझता है और सास्कृतिक-साहित्यिक उत्तरदायित्व से मुक्त होकर इसी प्रकार के कवि सम्मेलनो एव ऐसे ही काव्य रूपो को अरसे से प्रसारित करता रहा है।

दूरदर्शन ने कविता से रचनात्मक सम्बन्ध न बनाकर स्ट्रडियो में श्रोताओ को बुलाकर कवि सम्मेलनों के सतही काव्य रुचि को स्थान दिया है। दूरदर्शन ने कविता के केवल उसी रूप को अंगीकार किया है जो प्राय: मनोरजनधर्मी रहा है। दूरदर्शन के इस तर्क को कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता कि पठनीय कविताएँ दूरदर्शन से प्रसारण योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस कोटि की कविताएँ कई बार दूरदर्शन से प्रसारित हुई हैं जिनको साहित्य की दृष्टि से भी पूर्णत: सफल कहा जा सकता है। आज के रचनाकार माध्यमों की सीमाओं संभावनाओ के प्रति सजग हैं और उसके प्रयोगशील उपयोग के प्रति सचेष्ट हैं, ऐसा कई रचनाकारों ने अपने रचनाधर्मी दायित्व के निर्वहन से सिद्ध कर दिया है। आवश्यकता है दृश्य माध्यम के स्टूडियो में मंच को स्थानापन्न न करके कैमरे से कविता के सम्प्रेषण की सीमाओं एवं संभावनाओं के सूत्र को तलाशने की।

एक सम्पूर्ण कविता की सम्भावना

जहाँ तक डिजिटल माध्यम की बात है, कलकत्ते की एक लडकी द्वारा इन्टरनेट पर कविता प्रसारित करने का एक उदाहरण हम ले सकते हैं। इस लडकी के मन मे यह भावना जागी की वह अपनी भाषा की सुंदर कविताओं का एक सग्रह अपने चैटरूम के द्वारा विश्वभर के हिन्दी प्रेमियो को उपलब्ध कराए। उसने हिन्दी की कई कविताएँ चुनी और जब उन्हें दुनियाँ के कई कम्प्यूटरों पर पढ़ा गया तो धन्यवाद और बधाई का तातां लग गया-'आहा! हम यहाँ विदेश में बैठकर अपनी भाषा की

---

17 मीडिया और साहित्य, सुधीश पचौरी, पृष्ठ 121

सर्जना का स्वाद ले रहे हैं। धन्यवाद।'[18] यह इस माध्यम के लिए एक नया प्रयोग है। हालाकि हिन्दी जगत् दूरदर्शन के अप सांस्कृतिक कलापो के कारण इन्टरनेट के प्रति भी सशकित है। इसके पीछे इस माध्यम का पहले दुरुपयोग होना मूल कारण है। इसके बावजूद स्क्रीन पर कविता पढने एवं सुनने का एक अद्वितीय अनुभव है। मल्टीमीडिया के प्रयोग से कम्प्यूटर द्वारा कविताएँ एक साथ पढी एव सुनी जा सकती हैं। इसके लिए ऐसे साफ्टवेयरों के निर्माण की सभावना है। इसके साथ ही इस माध्यम के प्रति हिन्दी जगत् के इस आरोप का उत्तर भी दिया जा सकता हे कि ये भागीदारिता का अवसर नहीं देते हैं। क्योंकि एक पुस्तक की तरह स्क्रीन पर कविता के साथ यहाँ एक मार्जिन भी उपलब्ध है। इन सभवानाओं के साथ भाषा की उच्चतम शक्ति-कविता की उस गहराई को स्क्रीन पर उतारने की आवश्यकता है। आगे समय बताएगा कि यह कितना सर्जनात्मक है। एक समर्थ रचनाकार इस मीडिया में रचना की जीवनी शक्ति को उकेर सकता है। फिर सम्पूर्ण कविता की इस सम्भावना में एक संभावित प्रश्न भी निहित है कि क्या इलेक्ट्रानिक माध्यमों खासकर दूरदर्शन के कारण कविता की जो नकारात्मक क्षति हुई उसकी पूर्ति इस डिजीटल माध्यम से सभव है? यह आगे का समय बताएगा।

कविता के शिल्प एवं वस्तु पर माध्यमों का प्रभाव

कविता के शिल्प ने माध्यमों के विविध प्रभावों को ग्रहण किया है। कव्यालोचन के अनेक प्रतिमान विभिन्न सम्प्रेषण साधनों एवं माध्यमों की प्रेरणा से निर्मित हुए हैं। चित्रकला से प्रेरणा लेकर छायावादी एवं छायावादोत्तर काव्य में चित्र भाषा एवं बिम्ब की प्रतिष्ठा हुई। चित्र-भाषा एव बिम्ब का मूलाधार भी चित्र कला है। पंत ने पल्लव की भूमिका मे लिखा कि "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है।" निराला ने भी प्रकारान्तर से इसका समर्थन करते हुए लिखा कि "हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में विराट-चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रों की ओर है।" इस प्रकार छायावादी युग में कवियों ने चित्र भाषा के द्वारा कविता में लघु-विराट चित्रों की सृष्टि का प्रयास किया तो. आलोचकों की ओर से चित्रात्मकता के आधार पर कविता का मूल्यांकन भी हुआ।[19] कालान्तर में प्रगतिवाद काव्य की सपाट बयानी के विरुद्ध कविता में काव्य बिम्बों की प्रतिष्ठा हुई और कवियो ने घोषणा की कि "कविता में मै सबसे अधिक बयान देता हूँ, बिंब विधान पर। बिंव-विधान का संबन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही

---

18 'वागर्थ',सितम्बर, 1997, पृष्ठ 8

19 कविता के नए प्रतिमान,नामवर सिह, पृष्ठ 115

उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।'' (केदार नाथ सिंह) इस प्रकार नए-नए काव्य बिम्बों के निर्माण को ही कविता का प्रतिमान भी मान लिया गया।

लम्बी कविताओ की आलोचना मे नाटकीयता की खोज हुई। लम्बी कविताओं की काव्यगत रचना नाटकीयता के प्रभावों को अपने में समेटी हुई थी। मुक्ति बोध के 'अधेरे में' एवं विजयदेव नारायण साही के 'अलविदा' के रचना शिल्प के विवेचन मे हम पाते है कि कविताएँ नाटकीय एकालाप ही हैं, किन्तु इनमें फैंटेसी के सहारे एक ऐसी प्रभावशाली पटभूमि तैयार की गई है जिनमें एकालाप के बावजूद इन दोनों कविताओ में वाचक के अतिरिक्त एक और व्यक्ति है जो छाया रूप में उस एकालाप का साझीदार बना रहता है। ये कविताएं नाटक के दर्शक के रूप मे पाठक को अपने से जोड़ती हैं।

मुक्तिबोध के 'अँधेरे में' कविता एक स्वप्नचित्र की तरह है जिसे फेंटेसी कहते है। इन ''स्वप्नचित्रों का रूपबंध किसी फिल्म की पटकथा के समान है। जगह-जगह 'कट' और 'क्लोज-अप' इस्तेमाल किया गया है। ध्वनि और रूप दोनों का अन्तर्वेशी नियोजन है।''[20] इस प्रकार इन नयी कविताओं ने शिल्प के स्तर पर माध्यमों से सूक्ष्म प्रभाव ग्रहण किए हैं जो रचना मे घुल कर उसकी जीवनी शक्ति बन जाते हैं। पत्रकारिता को साहित्य के सन्दर्भ मे देखने की पहल रघुवीर सहाय ने की। इन्होंने राजनीति अन्तर्विरोध को कविता के टकसाल मे ढालने की कोशिश की। राम स्वरूप चतुर्वेदी ने इनके बारे में कहा, ''जीवन भर मीडिया मे रहे, रेडियो मे नौकरी की, अखबार नवीसी दैनिक अखबार में की, साप्ताहिक अखबार में की, उनकी भाषा में अखबारीपन था। पर अखबार की भाषा से मीडिया नहीं रचा। उस व्यक्ति ने अखबार से कविता रची और एक शक्ति दिखा दी कि रचना में क्या जीवनी शक्ति है।

संचार माध्यमो ने कविता के अन्तर्वस्तु को भी प्रभावित किया है। इलेक्ट्रानिक माध्यमों पर यह आरोप लगा कि इसने पाठक की भागीदारिता को समाप्त किया है। कविता और साहित्य में जहाँ अनुभूति महत्वपूर्ण होती थी, माध्यमों के प्रभाव में उसका स्थान तात्कालिकता और सनसनी ने ले लिया। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसको रेखांकित करते हुए कहा कि ''कविता में यदि देखें तो अनुभूति की बजाय सनसनी प्रमुख हो गई है। अनुभूति की सघनता की बजाय प्रौद्योगिकी से उत्पन्न आवेश और

---

20. कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिह, पृष्ठ 149

आवेश से मुखरित सनसनी कविता में मुखरित होती दिखाई देती है। और इसके कई साक्ष्य देखे जा सकते हैं। नए कवियो में एक महत्वपूर्ण नाम धूमिल का है जो कवियो मे समादृत रहे। उनके मुख्य कविता संग्रह के मुखबन्ध में ही एक पंक्ति उन्होने लिखी कि 'एक सही कविता पहले एक सार्थक वक्तव्य होती है।' कविता से या अनुभूति से बयान को अधिक महत्व देना एक प्रकार से इसी प्रौद्योगिकी से उत्पन्न सनसनी का लक्षण है। वह नारे को, बयान को या वक्तृता को अधिक महत्व देते हैं। चौथे सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने यही शिकायत की है कि नयी पीढी के कवि मे जो दोष है वह यह कि उसकी कविता बहुत बोलती है, बयान कुछ अधिक है। सनसनी और बयान का यह तत्व कविता में हमें अनुभूति पर हावी होता दिखायी देता है। बयान ओर सनसनी का कविता के परिप्रेक्ष्य मे विवेचन यह एक भिन्न प्रश्न हो सकता है किन्तु इसी के साथ दूसरा पक्ष यह है कि रचनाकारों का इन संचार माध्यमों के कारण वृहत्तर वैश्विक सत्य से साक्षात्कार हुआ है। इससे रचनाकारो की दृष्टि वैश्विक एवं मानवीय हुई है तथा उसका संवेदनात्मक विस्तार हुआ है। संवेदनात्मक जटिलता के कारण काव्य सृजन प्रभावित हुआ है और इसलिए यह अकारण नहीं कि शुद्ध साहित्यिक कविताएँ दुरूह सम्प्रेषण से जनसामान्य से कटकर विशेषीकृत हो गई। इस स्थिति में जब कविता से लय खो गया तो इन माध्यमों में कविता के सर्वसुलभ रूप में वह स्थान कैसे संभव है जहाँ हिंसा भी संगीतमय हो।

ये माध्यम कविताओं को सम्प्रेषण का अवसर देते हैं। यदि कविता के समयानुकूल विविध प्रतिमानों यथा रस, छन्द, अलंकार, काव्यभाषा, चित्रभाषा, बिम्ब, प्रतीक, नाटकीयता, प्रगीतात्मकता, विसंगति, विडम्बना, फैन्टेसी आदि एवं विविध काव्यान्दोलनो से निरपेक्ष होकर विचार करें तो कविता के लिए सृजनात्मकता एव संवेदनीयता की जो अनिवार्य शर्त है वह माध्यमों से प्रसारित इन कविताओं में रहती ही हैं। किन्तु माध्यम एवं कविता के लिए आवश्यक है कि ये एक दूसरे से रचनात्मक संबन्ध बनाते और जिससे जनता से काव्य बोध परिष्कार सम्भव हो सके। माध्यम सूचनात्मक हैं। उनके ऊपर ज्ञान प्रसारण के उद्देश्य का दबाव है। किन्तु कविता की भी उपयोगिता है—मानस चिकित्सा के उपयोगिता की। आज जहाँ व्यक्ति सूचनात्मक तंत्र में फँसकर एक तनाव का अनुभव कर रहा है, वहाँ से मानसिक चिति के संतुलन एवं शांति की आवश्यकता है, उसके मन के रंजन की आवश्यकता है इसलिए साहित्य और खासकर प्रगीतात्मक कविताएँ इस कार्य को बखूबी कर सकती हैं। विस्तीर्ण सूचनात्मक संसार से ज्ञान एवं कर्म की असीम संभावना के द्वार खुले हैं। इससे मनुष्य की महत्वाकांक्षाओं का विस्तार हुआ है। फलत: एक संवेदनात्मक हड़बडी का वातावरण बना है। इसलिए यह अकारण नहीं है कि आज संगीत (फास्ट म्यूजिक) पसंद किया जा रहा है जो प्रगीतात्मक कम संगीतमय ज्यादा है।

अध्याय - आठ

साहित्य एवं माध्यम : सृजन एवं सम्प्रेषण

अध्याय - आठ

साहित्य एवं माध्यम : सृजन एवं सम्प्रेषण

सृजन बिना सम्प्रेषण के अधूरा है। वस्तुत सम्प्रेषण की समस्या ही रचनाकार के लिए सृजनात्मक विवेक उत्पन्न करती है। रचनाकार जब अनुभूत सत्य को दूसरे तक पहुँचाने की चेष्टा करता है तब वह अपने सर्जनात्मक विवेक को उत्तेजित करता है। फलत कला या साहित्य का स्वरूप निर्मित होता है। इस कला या रचना को दूसरे तक पहुँचाने के लिए माध्यम चाहिए। अत साहित्य के लिए माध्यम अनिवार्य हो जाता है। साहित्य का माध्यम निरपेक्ष होना आत्मघाती है,क्योंकि सम्प्रेषण और प्रसार के बिना साहित्य आखिर किसके लिये ? फिर रचना के सम्प्रेषण के लिये माध्यम की उपयुक्तता पर विचार आवश्यक हो जाता है। पुन माध्यम के सदर्भ मे यह प्रश्न उठता है कि माध्यम रचना को किस हद तक सम्प्रेषित कर रहा है। इस तरह रचनाकार का माध्यम से द्वन्दात्मक सघर्ष शुरू होता है और माध्यम की सीमाओ एव सभावनाओ को अन्वेषित कर उसका उपयोग वह अपने रचना के सदर्भ मे करता है। यह वैसे ही है जैसे एक नाट्य लेखक रगमच की प्रकृति को ध्यान मे रखकर लेखन करता है। इस प्रकार से माध्यम के सापेक्ष नवीन विधा का प्रादुर्भाव होता है।

प्रश्न यह है कि यदि रगमच को ध्यान मे रखकर लिखने वाला लेखक साहित्यकार है तो इलेक्ट्रानिक मीडिया आदि अन्य माध्यमो का ध्यान मे रखकर लिखने वाला साहित्यकार क्यो नहीं ? यह इसलिए कि जिस रचनात्मकता से एक साहित्यकार टकराता है उस तरह आधुनिक इलेक्ट्रानिक मीडिया या फिल्म का लेखक नहीं टकराता है। मात्र मनोरजन के लिए सस्ते उपन्यास लिखने वाला उपन्यासकार भी इसी प्रकार सच्चे अर्थों मे साहित्यकार नहीं कहा जा सकता है क्योकि उसका लेखन रचनात्मक नहीं होता बल्कि वे पाठक की इन्द्रियो का उत्तेजन मात्र करके निम्नकोटि का मनोरजन करने वाले होते हैं। फिल्म एव इलेक्ट्रानिक मीडिया की अधिकाश अभिव्यक्ति, चाहे वह लेखन के स्तर पर हो अथवा सप्रेषण या प्रसारण के स्तर पर हो, उसके लेखक या निर्देशक प्राय रचनात्मकता से नहीं टकराते वरन् वे ग्लैमर एव प्रचार के दबाव मे होते हैं।

फिर यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि यह रचनात्मकता क्या है और रचना मे किस रूप मे उपस्थित रहती है ? इसे पूर्णत शब्दो मे अभिव्यक्त करना दु साध्य है। "रचनात्मकता जब जी चाहे, जिस किसी रचना मे, मनमाने ढग से पैदा नहीं की जा सकती। कुछ क्षण या एक समय विशेष ऐसा होता है जिसमे रचनाकार की रचना मे वह बिना बुलाए मेहमान की तरह स्वय आ सकती है, या पहुप वास की तरह अपने पूरे जलाल के साथ स्वय प्रकट हो जाती है। शब्द की ताकत की सीमा का एहसास उस वक्त भी होता है जब हम रचनात्मकता को समझने या समझाने के लिए शब्दो का चयन करने लगते हैं। पूरी कोशिश करने पर यूँ लगता है जैसे बहुत कुछ अनकहा रह गया है या पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं हो पाया है। यही किसी श्रेष्ठ या अपने समय की पढने की परम्परा या आलोचना को चुनौती देने वाली रचना के साथ भी होता है। रचना मे बहुत कुछ अनभिव्यक्त या अनकहा रह जाता है, वास्तव मे वह अनकहा ही रचना का प्राण तत्व होता है। उस प्राण तत्व को बिना कहे ही जो शक्ति रचना के पाठको के मन–मस्तिष्क और आत्मा तक पहुँचा देती है, मुझे लगता है शायद वही शक्ति रचनात्मकता की शक्ति होती है। यह शक्ति पत्रकारिता के स्तर पर लिखे गए लेखन मे नहीं हो सकती क्योंकि पत्रकार को तो जरूरत के मुताबिक तुरन्त लेख या टिप्पणी तैयार करनी होती है। वह साहित्यकार की तरह रचनात्मक क्षणो की प्रतिक्षा नहीं कर सकता। साहित्यकार के पास यह सहूलियत होती है कि जब उसको अन्तर से प्रेरणा मिले या रचनात्मक क्षणो का दबाव महसूस हो तब लिखे। अगर कोई साहित्यिक प्रेरणा या दबाव की प्रतीक्षा किए बिना साहित्य का सृजन करता है तो उसका साहित्य भी रचनात्मकता विहीन या अखबारी साहित्य ही होता है। सच कहा जाए तो वह साहित्य होता ही नहीं है। व्यावसायिक किताबो का निर्माण करने वाले लेखकों के लेखन मे सबसे बडी कमी यही रहती है कि उसमे रचनात्मकता नहीं होती है। हॉ, कभी–कभी पत्रकार के हाथ से लिखे जाने वाले लेख भी रचनात्मकता से परिपूर्ण होते हैं। ऐसे लेख पाठको के हृदय पर अच्छी साहित्यिक रचनाओ जैसा ही प्रभाव छोडते हैं। अज्ञेय ओर रघुवीर सहाय के कई लेख इसके लिए उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किए जा सकते हैं।"[1] मीडिया के फीचर लेखन मे भी रचनात्मकता के यत्र–तत्र दर्शन होते हैं। मीडिया के लोग जिस दिन रचनात्मकता की इस शक्ति का ऐहसास कर लेगे,

---

1 जनसचार–सपादित राधेश्याम शर्मा का लेख पत्रकारिता और साहित्य - राजेश गर्ग पृष्ठ-207।

मीडिया की शक्ति उसी दिन बहुगुणित हो जायेगी।

आधुनिक माध्यमो के वे लेखक या निर्देशक जो अपने को ग्लैमर से दूर रखकर मीडिया की आतरिक शक्तियो से टकराते हुए सृजनात्मक रहने की चेष्टा करते हैं, निश्चित ही उनकी कृतियॉ श्रेष्ठ होती हैं। अगर उन्हे साहित्यकार कहे तो अप्रासगिक नहीं है क्योकि व उससे कम भी नहीं हैं। पहले भी केवल कवि ही साहित्यकार था और काव्य साहित्य का पर्याय था। किन्तु जैसे–जैसे नाटक एव पत्रकारिता का विकास हुआ, उसके घात–प्रतिघात से निर्मित होती विधाए भी साहित्य की कोटि मे परिगणित होने लगीं। आधुनिक सदर्भ मे माध्यमों की कुछ सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के कारण सहित्य की परिधि मे सचार माध्यमों से सम्बन्धित साहित्य को भी लिया जा सकता है। इसमे बडी बाधा के रूप मे "सृजनात्मक साहित्य की एक और विवशता यह है कि वह सच्चाई को व्यवस्थित और विन्यस्त तो करता है लेकिन उसे सरलीकृत करने को तैयार नहीं है। हम विराट सरलीकरण के युग मे रह रहे हैं फिर वे सरलीकरण विचारधारा के हो, अथवा व्यवसाय के या सम्प्रेषण के। सृजनात्मक साहित्य इस विश्वास मे बद्धमूल है कि सचाई का सरलीकरण नहीं किया जा सकता। मासमीडिया, पत्रकारिता आदि ऐसा ही सरलीकरण कर रहे हैं और सारे ससार पर छाते जा रहे हैं। सरलीकरण के विरूद्ध हठ किए साहित्य और अन्य कलाएँ ऐसे समय में अलग–थलग पड जाए तो इसमें अचरज की बात नहीं है।"[2]

मीडियाकर्मी के लिए रचनात्मक होने मे दूसरी बडी बाधा मीडिया पर पडने वाला सूचनात्मक दबाव है। मीडिया जीवन के स्थूल यथार्थ को अभिव्यक्त करना चाहता है, घटनाओ एव उससे संबन्धित तथ्यों आदि को व्यक्त करना अपना उत्तरदायित्व समझता है। यह आवश्यक भी है क्योकि तथ्यात्मक ज्ञान के बिना जीवन संभव भी नहीं है। फिर प्रश्न उठता है कि मनुष्य को आखिर कितनी सूचना चाहिए ? सूचना, घटना, तथ्य आदि कभी साहित्य नहीं हो सकते। हॉ, साहित्य के लिए कच्चेमाल होने की सभावना अवश्य रख सकते हैं। इसे साहित्य नहीं कहा जा सकता है, जैसे कि इतिहास को कभी भी साहित्य की उपाधि से विभूषित नहीं कर सकते। साहित्य और इतिहास मे हमेशा फर्क रहेगा, यह हो सकता है कि साहित्य मे ऐतिहासिक अनुभव को स्थान मिल जाए। सूचनात्मक होना किसी माध्यम का एक पक्ष है, जबकि

---

2 कुछ पूर्वग्रह, अशोक बाजपेयी पृष्ठ 145

सूचनात्मक ससार के अन्तर्विरोध, सवेदना आदि के माध्यम से जीवन की सूक्ष्म अभिव्यजना करना इसका दूसरा तथा अत्यत महत्वपूर्ण पक्ष है। हमारे शास्त्रो मे भी सूचना को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना गया जितना साहित्य, सगीत या कला को—

"साहित्य सगीत कला विहीन
साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीन ।"

आज मीडिया साहित्यकारो एव समाजशास्त्रियो के लिए चिन्ता का विषय बना हुआ है, क्योकि मीडिया का प्रभाव अत्यत व्यापक एव तीव्र है। प्रिन्ट मीडिया के समय ऐसी समस्या नहीं थी। आज इलेक्ट्रानिक मीडिया के विकासात्मक दबाव मे प्रिट मीडिया भी अगभीर हो रही है, उस पर अगुलियॉ उठ रही हैं। इलेक्ट्रानिक मीडिया के सापेक्ष प्रिटमीडिया का विकास धीरे–धीरे हुआ। साहित्यकार एव समाजशास्त्री प्रिट मीडिया के विकास एव उपयोग के प्रति सचेत थ और उन्होने उसका माध्यम के रूप मे बेहतर प्रयोग किया। किन्तु आज सम्पूर्ण सचार प्रविधि जितनी तेजी से विकसित हो रही है उतनी तेजी से हम उसके उपयुक्त प्रयोग के बारे मे गभीरता से सोच नहीं पा रहे हैं। दूसरे शब्दो मे जितनी तीव्रता से हार्डवेयर का विकास हो रहा है उतनी तीव्रता से माध्यम के लिए साफ्टवेयर अर्थात् श्रेष्ठ कार्यक्रमो का निर्माण नहीं हो पा रहा है। मीडियाकर्मी शीघ्रता मे कार्यक्रम का निर्माण चाहता है। इस क्षिप्रता मे उसके रचनात्मकता से चुकने का पर्याप्त खतरा है क्योकि मीडियाकर्मी के लिए यह उसकी व्यावसायिक आवश्यकता है। अत उसके लिए यह विवशता भी है। श्रेष्ठ रचना मन की प्रशात अवस्था मे निर्मित होती है, अत इस स्थिति मे श्रेष्ठ रचनाओ की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। दूसरे मीडिया सर्जनात्मक हाथो मे नहीं है। साहित्यकारो, रचनाकारो का एक बहुत ही छोटा भाग मीडिया से जुडा है। तीसरे, सचार प्रविधि के विकास मे सत्ता का पूर्ण सहयोग है जबकि सृजनकर्मी उसके आखो से ओझल हैं, फिर सत्ता क्यो चाहेगी कि लोगो के ज्ञान–चक्षु खुले, इससे उसके निरकुश बने रहने मे खतरा है। स्वाभाविक ही है कि इस असतुलित विकास मे रचनाकर्मी मीडिया से होड लेने मे अक्षम हो।

विगत मे रचनाकार के लिए सप्रेषण उस रूप मे समस्या नहीं थी जिस रूप मे आज हैं पहले सम्प्रेषण के सीमित माध्यम थे। अब रचनाकार के लिए सम्प्रेषण की असीमित सभावनाए–हैं और सप्रेषण

से भी आगे प्रसारण के विविध माध्यम और चैनल उसके समक्ष है। आज रचनकार के पास पर्याप्त सभावनाए हैं। वह माध्यम सापेक्ष नई–नई विधाओ मे रचना कर सकता है। अत रचनाकार के लिए सम्प्रति सम्प्रेषण एक समस्या है, जिनसे टकराए बिना वह नहीं रह सकता। "शायद हर समय लेखको ने इस दबाव को महसूस किया हो। किन्तु आज के युग में यह दबाव महज सृजनात्मक स्तर पर ही नहीं, मनुष्य के व्यापक सामाजिक परिवेश में दखल देने लगा है। पहले लेखक इस दबाव से सीधे–सीधे निपटता था, अपनी रचना में सुलझाता था– सम्प्रेषणीय एक समस्या नहीं थी, वह आत्मसघर्ष का ही एक अग था जिसे सृजनकर्म से अलग करके नहीं देखा जाता था।"[3] उस समय आज की तरह के सचार माध्यम नहीं थे फिर भी कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियो के वचन जनसख्या के एक बहुत बडे भाग तक पहुॅचते थे और प्रभावित करते थे। आज समस्या है। आज मौखिक माध्यम से तेज माध्यम साहित्यकार के समक्ष चुनौती रूप मे है। "उसके सामने भाषा के जो दूसरे साधन हैं उनमे ऐसी क्षमता आ गई है कि इसके पहले कि भाषा पहुॅचे, अखबार पहुॅच चुका होता है। इसके पहले कि सृजनात्मक शब्द आपके दिमाग मे आए, एक दृश्य–श्रव्य शब्द आपके उपर असर कर चुका होता है। इसलिए सृजनात्मक शब्द की गति से अधिक तीव्र गति वाली एक पूरी सस्कृति विकसित हो रही है"[4] इस परिस्थिति मे वह इन माध्यमो से विलग होकर रह नहीं सकता, इस चुनौती को उसे स्वीकार करनी होगी।

सृजनात्मक साहित्य मौलिक होता है "इसे रचनाकार और रचना दोनो का निजी वैशिष्ट्य कहा जा सकता है जिस रचना में यह सृजनात्मकता, यह मौलिकता, यह निजी वैशिष्ट्य जितना ही अधिक होगा, वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ होगी।"[5] मीडिया की आतरिक शक्तियो से टकराकर सृजनात्मकता को सुरक्षित बचा लेने वाला रचनाकार यदि उस माध्यम विशेष के लिए कोई श्रेष्ठ रचना निर्मित की है तो कृति भी मौलिक है और उसका मूल्यांकन लिखित साहित्य के प्रतिमानो के आधार पर नहीं किया जा सकता है। यदि कविता की समीक्षा के प्रतिमानो के आधार पर नाटक या कथा–साहित्य की समीक्षा नहीं की जा सकती तो लिपिबद्ध साहित्य के अनुसार आकाशवाणी, टेलीविजन या स्क्रीन पर उतरे साहित्य

3 शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, पृष्ठ 38

4 साहित्य और सामाजिक मूल्य, डॉ हरदयाल पृष्ठ 46

5 कुछ पूर्वग्रह, अशोक बाजपेयी, पृष्ठ 109

की समीक्षा कैसे संभव है ?

किसी माध्यम मे रूपातरित रचना का साहित्यिक परिप्रेक्ष्य मे विवेचन होता है। उसके साथ ही, उस माध्यम के लिए निर्मित मौलिक रचना का भी साहित्यक परिप्रेक्ष्य मे विवेचना होना चाहिए। दूसरे शब्दो, मे किसी साहित्यिक कृति पर आधारित धारावाहिक या फिल्म आदि की समीक्षा हम साहित्यिक मानबिन्दुओ के आधार पर करते हैं किन्तु मूल रूप मे उस माध्यम विशेष के लिए स्वतत्र रूप से लिखे गये रचना का मूल्याकन हम उस तरह मे नहीं करते हैं। वस्तुत फिल्म, आकाशवाणी और टीवी आदि के कृतियो के मूल्याकन या समीक्षा की भाषा या प्रतिमान का निर्माण अभी तक नहीं हो सका है जिसका उत्तरदायित्व मूलत साहित्य समीक्षको पर है। इसे शुद्ध साहित्य कर्म के रूप मे न भी लिया जाय, तो भी सचार साहित्य के रूप मे लिया जाना चाहिए। उसे हेय मानना सम्प्रेषण एव प्रसारण के महत्त्वपूर्ण माध्यम को गैर–जिम्मेदार लोगो के हाथो में सौंपना होगा। साहित्य समाज के आगे चलने वाली जलती हुई मशाल है, अत माध्यम को भी अपने परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत साहित्य ससार की समीक्षा को गभीरता से लेनी चाहिए।

साहित्य की उत्कृष्टता के पीछे उसकी आलोचनात्मक शक्ति है। साहित्य अपनी इस शक्ति से प्रखर हुआ है। किसी भी सृजनात्मक लेखन के लिए समालोचना आवश्यक है। साहित्य मे आलोचना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मीडिया के साथ सकट यह है कि उसके गभीर आलोचक नहीं है। उसके कार्यक्रमों की स्वस्थ आलोचना नहीं मिलती। उसके बारे मे प्रिन्ट मीडिया मे जो कुछ भी प्रकाशित होता है, वह या तो मात्र सूचनात्मक या प्रचारात्मक होता है या प्रशसात्मक। इलेक्ट्रानिक मीडिया अथवा फिल्म की समीक्षा मे पृष्ठों का अधिकांश भाग तस्वीरो से भरा होता है। मीडिया बहुत हद तक सृजनात्मक होने पर भी साहित्य की अन्य विधाओं की ऊँचाई तब तक नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक कि वह अपनी आलोचनात्मक विधा का निर्माण न कर ले। समय रहते माध्यमो ने आत्मपरीक्षण नहीं किया तो उनकी सृजनात्मक शक्ति के कुठित होने की पूर्णसभावना है और इस स्थिति मे वे सास्कृतिक अपदूषण के औजार मात्र बने रहेंगे।

सम्प्रेषण माध्यम बदल जाने मात्र से कोई कृति असाहित्यिक नहीं हो जाती बल्कि "किसी भी कलाकृति का महत्व उसकी सम्प्रेषणीयता पर नहीं बल्कि उसमे अन्तर्निहित उद्देश्य और उस उद्देश्य को

रूपापित करने की जिम्मेदारी द्वारा निर्धारित होता है।"[6] किसी कृति या रचना का मूल्याकन लोकप्रियता एव सप्रेषण माध्यम के आधार पर नहीं होना चाहिए बल्कि उसमे अन्तर्निहित प्रेरणा के आधार पर होना चाहिए। "यह इन माध्यमो का ही दबाव है कि किसी भी रचना या कृति को उसके प्रभाव–बिन्दु से आँका जाता है। यहीं से 'लोकप्रियता' का मानदण्ड जन्म लेता है। साहित्य या सस्कृति के मूल्याकन के अब के औजारो मे यह एकदम नया तत्व जुडा है। यही तत्व इन सचार माध्यमो की सस्कृति–सामग्री का निर्णायक है। यहाँ वही पैदा किया जाएगा जो लोकप्रिय हो, बाक्स पर हिट या टी वी पर दर्शको को अधिकाधिक बाधे रख सके।"[7]

साहित्य माध्यम के लिए कच्चामाल है, इस आधार पर साहित्य एव माध्यम का सम्बन्ध निर्धारित नही किया जा सकता। किसी एक साहित्यिक रचना की किसी दृश्य–श्रव्य माध्यम मे प्रस्तुति उस रचना का उस माध्यम मे रूपातरण है। जब तक साहित्य स्वय उस माध्यम की रचना प्रक्रिया का हिस्सा नही बनता, तब तक रचना की सार्थक प्रस्तुति सभव नहीं है। इसी प्रकार अक्षरस कहानी का अनुकरण भी स्वतत्र एवं मौलिक रचना का निर्माण नही है। साहित्यिक कृति एव माध्यम के बीच एक द्वन्दात्मक सबध हो सकता है, जहाँ दोनो एक दूसरे के लिए कच्चे माल के रूप मे नहीं बल्कि अन्तर्निहित सभावना का साक्षात्कार करते हुए अपनी स्वतत्र इयत्ता स्थापित कर सकते हैं, जहाँ एक विधा का मर्म दूसरी विधा के प्रतीको द्वारा आलोकित हो सकता है"[8] किन्तु इन दोनो के बीच प्राविधिक तत्व आदि गैर–रचनात्मक बिचौलियो की जितनी ही उपस्थिति होगी, उतना ही सास्कृतिक क्षरण होगा।"[9]

मीडिया के प्रमुख उद्देश्यो मे सूचना एव मनोरजन है। सूचना ने साहित्य को किस तरह प्रभावित किया है इसकी पूर्व मे चर्चा हो चुकी है रही बात मनोरंजन की तो मनोरजन मनुष्य की जैविक आवश्यकता है। "वैसे मनोरंजन के बहुत थोडे स्वरूप ही ऐसे हैं, जिनका उद्देश्य मनोरजन मात्र हो और जिनमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, प्रकट अथवा अन्तर्निहित रूप से दूसरे उद्देश्य घुले–मिले न हो। नानी की कहानियो और कठपुतलियो के नाच तक मे एक सबक होता था। आज की कथा मे सशक्त सामाजिक

---

6 शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा पृष्ठ ८६
7 मीडियो और साहित्य, सुधीश पचौरी पृष्ठ १७
8 दृष्टव्य शब्द और स्मृति, निर्मल, वर्मा पृष्ठ ८५
९ दृष्टव्य माध्यम और साहित्य, सुधीश पचौरी पृष्ठ ७२

आलोचना सभव है, सिनेमा, रेडियो और टेलीवीजन के मनोरजन के उद्देश्य से प्रस्तुत किये गए कार्यक्रम अनेक ऐसे सन्देशो का वहन कर सकते हैं जिनकी कल्पना सभवत उनके प्रस्तुतकर्त्ताओ को भी न हो। मानस की गहराई मे अनेक प्रभावो का विश्लेषण अब होने लगा है। इस नयी समझ का उपयोग अधिकाशत व्यावसायिक हितो की दृष्टि से किया गया है।"[10] किन्तु माध्यमो द्वारा मनोरजन की इस आतरिक शक्ति का प्रयोग उतना समाज की दृष्टि एव सुरुचि सम्पन्नता की वृद्धि करने मे नहीं हुआ है। जन सचार माध्यम जनरूचि बनाने–बिगाडने की महती भूमिका मे है। प्रमुखत इलेक्ट्रानिक मीडिया का अपने उद्देश्य से विचलन हो गया है और वे सस्ते मनोरजन का ढाचा मात्र बनकर रह गए है। नाटक, काव्य अथवा कथा साहित्य का मनोरंजन एक प्रमुख गुण होता है। साहित्य का यह स्वरूप मनोरजन के माध्यम से समाज की सुरूचि सम्पन्नता बढाने मे सहायक है। अत सचार माध्यम मे इन सभावनाओ का सार्थक प्रयोग किया जा सकता है किन्तु मात्र मनोरजन के नाम पर रचना की जीवनी शक्ति से खिलवाड करने की छूट कदापि नहीं दी जा सकती है।

साहित्य और माध्यम के परिप्रेक्ष्य म, इनके "सम्बन्धो की चर्चाएँ प्राय एक बुनियादी अन्तर्विरोध को स्वीकार करके शुरू की जाती है कि साहित्य एक अलग क्रिया है और माध्यम एकदम अलग। साहित्य और माध्यम का उक्त द्वैत यह भूलकर ही निर्मित किया जाता हे कि साहित्य माध्यम नहीं होता है और कि माध्यम बाहर से आता है, बाहरी चीज है। कहने की जरूरत नहीं कि हमारे हिन्दी समीक्षा शास्त्र और तज्जन्य साहित्य बोध की एक बुनियादी बाधा यही समझ है कि साहित्य, माध्यम से भिन्न कोई गैर माध्–यमित' (नान–मीडिएट) प्रक्रिया है, जो न केवल माध्यम–प्रक्रिया से निरपेक्ष है बल्कि उसके प्रभाव से भी मुक्त, स्वनिर्भर, धुली–पुंछी, अकलुषित, निष्कलक प्रक्रिया है' ऐसा है नहीं। माध्यम रहित साहित्य एक असंभव स्थिति है।"[11] किन्तु पूर्वोक्त विवेचन का यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि वर्तमान में माध्यमो की साहित्य सापेक्ष गतिविधियों से सतुष्ट हुआ जा सकता है। विवेचना का सदर्भ, स्थिति एव सभावना दोनों पर आधारित है। अत इसकी विवेचना को पूर्णता मे लेना ही उपयुक्त है। अभी तक हमने अखबार, पत्रिका एव पुस्तको की आखो से ही साहित्य को जाना है। माइक्रोफोन, कैमरा, स्क्रीन एव माउस

10 परम्परा, इतिहास बोध और सस्कृति, श्यामा चरण दुबे पृष्ठ 106
11 मीडिया और साहित्य , सुधीश पचौरी, पृ 21

(कम्प्यूटर) की ऑखो से देखने पर साहित्य का स्वरूप क्या होगा। अभी यह विशद विवेचना की सभावना से भरा हुआ है।

सचार–साहित्य की चर्चा का यह अर्थ कदापि भी इस तरह नहीं लिया जाना चाहिए कि यह लिखित साहित्य की महत्ता को कम करने का और मीडिया को महिमा मडित करने का प्रयास है। प्राविधिक विकास चाहे जितना हो जाए अथवा मनुष्य चाहे जितना व्यावसायिक हो जाए, मुद्रित शब्द का महत्व कभी नहीं घटेगा। साक्षरो के बीच लिखित साहित्य ही सर्वदा महत्वपूर्ण होगा भले ही निरक्षरो के बीच दृश्यो एव छवियो वाली सम्प्रेषण साधन रूपी माध्यमो की महिमा हो। भारत ही नहीं "दूरदर्शन जैसे सचार माध्यमो के आगमन और प्रसार ने पश्चिमी देशो के विचारको को एक बार झकझोर कर रख दिया और उनमे से कुछ इस बात की घोषणा करने के लिए विवश हो गए कि प्राविधिक समाज मे साहित्य ही नहीं, शब्दमात्र समाप्त हो जाएगा। यह भविष्यवाणी वहाँ सत्य सिद्ध नहीं हुई। अमरीका, इग्लैण्ड, फ्रास, जर्मनी, रूस जैसे प्राविधिकी की दृष्टि से विकसित देशो मे न तो साहित्य समाप्त हुआ और न ही लिखित–मुद्रित शब्द यानी पुस्तक। यह अवश्य हुआ कि प्राविधिकी के विकास ने साहित्य के स्वरूप और प्रकृति को प्रभावित करके उसमे बहुत परिवर्तन उपस्थित कर दिया'[12] "प्राविधिकी के विकास और औद्योगिकीकरण ने कस्बो को नगर और नगरो को महानगर बनाया है, नगरीकरण की इस प्रक्रिया ने एक ओर व्यक्ति की पहचान को क्षरित किया है, दूसरी ओर व्यक्ति मे अपनी पहचान बनाए रखने की छटपटाहट भर दी है। साहित्य और जीवन मे चलने वाले नित्य नए फैशन, व्यक्ति को निजी अनुभव तक सीमित रह जाना, अकेलापन, कुण्ठा, विवशता, उब इत्यादि के अनुभव–प्राविधिक के सूक्ष्म प्रभाव हैं, जिन्हे आज बराबर अनुभव किया जाता है।"[13] इसी प्रभाव के चपेट मे आज माध्यम भी है लेकिन साहित्य ही है जो समाज मे पनपे इन अन्तर्विरोधो को उजागर कर समाज के समक्ष जलती हुई मशाल दिखा सकेगा। दृश्य शब्द को स्थापनापन्न नहीं कर सकता, दृश्य के बवडर मे भी शब्दब्रह्म के आलोक की महत्ता सर्वदा अक्षुण्ण रहेगी।

---

12 साहित्य और सामाजिक मूल्य–डॉ हरदयाल, पृ ६१

13 साहित्य और सामाजिक मूल्य–डॉ हरदयाल पृष्ठ ६५

परिशिष्ट

(क) सन्दर्भ सूची

(ख) इन्टरनेट पर हिन्दी भाषा एवं साहित्य

संदर्भ सूची

(1) समाचार सपादन और पृष्ठ सज्जा डॉ रमेश कुमार जैन, सस्करण 1996

(2) हिन्दी पत्रकारिता कृष्ण विहारी मिश्र, प्रथम सस्करण 1994

(3) जनसचार, सपादक राधेश्याम शर्मा, सपादक–दैनिक ट्रिब्यून चण्डीगढ, हरियाणा सहित्य अकादमी, चण्डीगढ, प्रथम सस्करण 1988

(4) जनमाध्यम और पत्रकारिता, दो खण्ड श्री राम दीक्षित, सहयोगी साहित्य सस्थान, कानपुर

(5) लोक सम्पर्क, लेखक राजेन्द्र एम ए जेन्डी, सयुक्त निदेशक, लोक सम्पर्क विभाग हरियाणा, प्रथम सस्करण 1972 अक्टूवर

(6) स्वतत्रता आन्दोलन और हिन्दी पत्रकारिता डॉ अर्जुन तिवारी, पथम सस्करण 1982

(7) हिन्दी पत्रकारिता (शोध प्रबन्ध) डॉ कृष्ण बिहारी मिश्र, भारतीय ज्ञान पीठ, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1968, द्वितीय सस्क्रण 1985

(8) हिन्दी पत्रकारिता राष्ट्रीय नव उद्‌बोधन डॉ भोपाल शर्मा, रार पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, प्रथम सस्करण 1978

(9) समाचार पत्रो का इतिहास अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, प्रथम सस्करण सवत् 2010

(10) पराडकर जी और पत्रकारिता लक्ष्मीशकर व्यास, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, प्रथम सस्करण 1960

(11) सवाद और सवाददाता राजेन्द्र, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ, द्वितीय संस्करण 1986

(12) आस्था का ऑगन आलोक मेहता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1998

(13) पत्रकारिता सन्दर्भ ज्ञानकोष याकूब अली खॉ, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम सस्करण 1984

(14) खोजी पत्रकारिता डॉ हरिमोहन एव हरिशकर जोशी तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1995

(15) जनसचार की विधा साक्षात्कार डॉ विष्णु पकल, माया प्रकाशन, जयपुर

(16) मीडिया के पचास वर्ष, सपादक प्रेमचन्द पातजलि राधा पब्लिकेशन्स, दरियागज, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1997

(17) समाचार एव प्रारूप लेखन डॉ राम प्रकाश एव डॉ दिनेश कुमार गुप्त, राधा कृष्ण प्रकाशन, प्रा लि, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1993

(18) पत्रकारिता के सिद्धान्त डॉ गुरूशरण लाल, भारत बुक सा?? 17, अशोकमार्ग, लखनऊ, प्रथम सस्करण 1997

(19) पराडकर जी और हिन्दी पत्रकारिता की चुनौतियॉ, सम्पादन अच्युतानन्द मिश्र एव बच्चन सिह, सहकारी समिति लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम सस्करण 1986

(20) राष्ट्रीय सकट मे मीडिया की भूमिका अनुवादक एव सम्पादक, वीर बाला अग्रवाल और वी एस गुप्त रावत पब्लिकेशन्स, 3 न 20 जवाहरनगर, जयपुर, प्रथम सस्करण 1996

(21) आधुनिक पत्रकारिता, डॉ अर्जुन तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सस्करण 1990

(22) कराघरे मे, डॉ रामशरण जोशी, सारा?श प्रकाशन प्रा लि 1.4 ?क?ा?न, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1995

(23) हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास की भूमिका, जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा लि)

29 अ पाकेट डी, दीप इन्क्लेव, अशोक बिहार 3, दिल्ली

(24) पत्रकार दृष्टक और पत्रकारिता· डॉ रमेश जैन, अध्यक्ष पत्रकारिता एव जनसचार विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा, राजस्थान प्रकाशन, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर, प्रथम सस्करण 1995

(25) समकालीन पत्रकारिता मूल्याकन ओर मुद्दे, सपादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन 21—अ दरियागज, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1994

(26) हिन्दी पत्रकारिता के विविध स्वरूप रमेश जैन, राजस्थान प्रकाशन जयपुर, प्रथम सस्करण 1995

(27) बहुजन सम्प्रेषण के माध्यम, (मास मीडिया की कथा), जगदीश चन्द्रमाथुर, आई सी एस, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, प्रथम सस्करण 1975

(28) शब्द की साख (भारत मे रेडियो प्रसारण) केशव चन्द्र वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1990

(29) पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, साहित्य सगम, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1987

(30) समय और सिनेमा, विनोद भादद्वाज, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1994

(31) सिनेमा की समझ विनोद भारद्वाज

(32) नया सिनेमा (कला फिल्मे) श्री विनोद भारद्वाज, उपरोक्त

(33) भारतीय नया सिनेमा, सुरेन्द्र नाथ तिवारी, अनामिका पब्लिसर एव डिस्ट्रीब्यूटर्स दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996

(34) रग मच और नाटक की भूमिका डॉ लक्ष्मी नारायण लाल, नेशनल पब्लिशिग हाउस नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1965

(35) भारतीय रगमच, आद्य रगाचार्य, अनुवादक शुभा वर्मा, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली, सस्करण 1994

(36) सिनेमा की सवदेना, विजय अग्रवाल, प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1685 दखनीराम स्ट्रीट, नेताजी सुभाष मार्ग, नइ दिल्ली 2, प्रथम सस्करण 1995

(37) रंगदर्शन, नेमिचन्द्र जैन, अक्षर प्रकाशन, प्राइवेट, लिमिटेड, 2/36 असारी रोडा दरियागज, नई दिल्ली, सस्करण 1967

(38) नाटक और रगमच, राजकुमार, हिन्दी प्रचारक, पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम ससकरण 1961

(39) नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक हजारी प्रसाद द्विवेदी एव पृथ्वी नाथ द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम सस्करण 1963

(40) हिन्दी रगमच, विविध आयाम डॉ रेखा गुप्ता वोहरा प्रकाशन, चौडा रास्ता जयपुर, प्रथम सस्करण 1996

(41) आधुनिक हिन्दी नाटक और भापा की सृजनशीलता, डॉ प्रेमलता, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1993

(42) सस्कृत और हिन्दी नाटक, रचना ओर रग कर्म जयकुमार जलज, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1985

(43) दृश्य अदृश्य, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सस्करण 1994

(44) अवधारणाओ का सकट, पूरन चन्द्र जोशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1995

(45) कविता, नाटक और अन्य कला, डॉ विपिन अग्रवाल, साहित्य भवन, प्राइवेट लि, प्रथम सस्करण 1995, पूर्व अध्यक्ष, भौतिक, इ वि वि

(46) शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय सस्करण 1995

(47) लिखने का कारण रघुवीर सहाय, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली, प्रथम सस्करण 1978

(48) साहित्य का परिवेश, सम्पादक– सच्चिदानन्द वात्स्यायन नेशनल पब्लिशिग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम सस्करण 1985

(49) विवेक विवेचन, केदारनाथ अग्रवाल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 1981

(50) सरोकार, गिरिराज किशोर, नेशनल पब्लिशिग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1994

(51) Listening & Viewing, (wenting on mass media), By- N L Chowla, Edited by M.V. Desai, Sanchar Publishing House in association with Namedia Foundation Published by- Jagdish Malhotra, Sanchar Publishing House New Delhi - 110017, First Publication 1991

(52) The Press, M Chalapathi Rav, National Book Trust New Delhi, Fdotion 1974

(53) India's Inforamation Revolution Arvind singhal & Everett M. Rogers, Sage Publications Pvt. Ltd., M-32 Greator Kailash Marpet 1, New Delhi - 110048, First Published 1989

(54) सूचना सम्प्रेषण एव समाज डॉ वी एस निगम, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल,

प्रथम सस्करण 1994

(55) हिन्दी के यशस्वी पत्रकार क्षेमचद सुमन, प्रकाशन विभाग, सूचना प्रसारण, मत्रलय, नई दिल्ली, सस्करण 1986 अप्रैल

(56) पत्र, पत्रकार ओर पत्रकारिता राजेन्द्र शकर, पकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मत्रालय, भारत सरकार, सस्करण दिसम्बर 1990

(57) History of Journlism & Media of mass communication, By Sanjeev Bhanawat, University Publication, Jai Pur

(58) मीडिया और साहित्य सुधीश पचौरी, राजसूर्य प्रकाशन, दिल्ली, सस्करण 1998

(59) टी वी टाइम्स सुधीश पचोरी, मेधा बुक्स, दिल्ली, सस्करण 1998

(60) समाचार सकलन और लेखन नन्दकिशोर त्रिखा, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ सस्करण द्वितीय 1990

(61) गद्य के विविध रूप एव पत्रकारिता डॉ प्रतीक मिश्र, ग्रन्थम, कानपुर, सस्करण 1995

(62) साहित्य की मान्यताएँ भगवती चरण वर्मा हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, सस्करण 1962

(63) आकाशवाणी रान बिहारी विश्वकर्मा, प्रकाशन विभाग, सूचना एव प्रसारण मत्रालय, भारत सरकार, सस्करण अप्रैल 1987

(64) पत्रकारिता के पहलू राजकिशोर, साहित्य सदन, कानपुर, सस्करण 1988

(65) राष्ट्रवाणी: रमेश नरायण तिवारी, प्रकाशन विभाग, सूचना एव प्रसारण मत्रलय, भारत सरकार, सस्करण मार्च 1986

(66) Organisation & Management of News Media Sanjeev Bhanawat, University Publication, Jaipur

(67) Principales and Techniques of new reporting · Sanjeev Bhanawat

(68) सम्पादन कला राजीव भानावत

(69) पत्रकारिता और भाषा योग्यता सजीव भानावत

(70) हिन्दी की दशा और पत्रकारिता पडित बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सस्करण 1983

(71) भारतीय विज्ञापन मे नैतिकता डॉ मधु अग्रवाल, प्रकाशन विभाग सूचना एव प्रसारण मत्रलय, भारत सरकार, सस्करण अपेल 1995

(72) दूरदर्शन विकास से बाजार तक सुधीश पचौरी प्रवीण प्रकाशन नई दिल्ली, सस्करण 1996

(73) साहित्य के नए दायित्व रामस्वरूप चतुर्वेदी, (सचार साधन और कला माध्यमो के सदर्भ मे)

(74) केन्द्र और परिधि अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस सस्करण 1984

(75) कुछ पूर्वग्रह अशोक वाजपेयी, राजकमल पकाशन पा लि , प्रथम सस्करण 1984

(76) साहित्य और सामाजिक मूल्य डॉ हरदयाल, विभूति प्रकाशन के–14 नवीन शाहदरा, दिल्ली

(77) परपरा, इतिहास बोध और सस्कृति श्यामाचरण दुबे राधाकृष्ण पकाशन नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1991

(78) भारतीय प्रसारण विविध आयाम डॉ मधुकर गगाधर, प्रवीण प्रकाशन मेहरौली नई दिल्ली, प्रथम सस्करण 1988

(79) पत्रकारिता सकट और सत्रास, हेरम्ब मिश्र

(80) लोक साहित्य की भूमिका डॉ कृष्ण देव उपाध्याय साहित्य भवन (प्रा) लिमिटेड, इलाहाबाद, सस्करण 1992

(81) लोक सगीत की रूपरेखा डॉ कृष्णदेव उपाध्याय साहित्य भवन (प्रा) लिमिटेड, इलाहाबाद, सस्करण 1992

(82) दूरदर्शन सम्प्रेषण और सस्कृति सुधीश पचौरी आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली 175

(83) हिन्दी प्रत्रकारिता विविध आयाम दो भाग, सपादक– डॉ वेद प्रताप वैदिक

(84) नाट्यशास्त्र भरत मुनि

(85) भरत और उनका नाट्यशास्त्र डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र प्रकाशक उत्तर मध्य क्षेत्र सास्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद

(86) शिव पूजन रचनावली

(87) साहित्य का उद्देश्य पेमचन्द हस प्रकाशन इलाहाबाद सस्करण अक्टूबर 1983

(88) अज्ञेय परिचय एव प्रतिनिधि कविताए सम्पादित विद्यानिवास मिश्र राजपाल एण्ड सन्स,

दिल्ली, सस्करण 1990

(89) कविता के नए प्रतिमान नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा लि नई दिल्ली, सस्करण 1993

(90) सर्जन और सम्प्रेषण, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय

(91) समकालीन कविता का यथार्थ डॉ परमानन्द श्रीवास्तव हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ, सस्करण 1988

(92) काव्य और कला तथा अन्यनिबन्ध जयशकर प्रसाद, डायमड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, सस्करण 1988

Certain Note Books Published by Indira Gandhi National Open University, Delhi on Jou1nlism and mass communication

(93) Introduction to communication

(94) Journlism.

(95) Mass Media & Development

(96) Editing

(97) International Communication

(98) Specialised Reporting

(99) Wring for Radia & Telivision

(100) Elements in Mass Media

(101) Relation between mass Media and Society

(102) Origin & Development of Mass Media in India.

कोश एवं इतिहास ग्रन्थ

(1) हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास रामस्वरूप चतुर्वेदी

(2) हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(3) हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ नगेन्द्र

(4) हिन्दी साहित्य कोश सम्पादित धीरेन्द्र वर्मा

प्रतिवेदन (Reports)

(1) सूचना और प्रसारण मत्रालय, भारत सरकार वार्षिक रिपोर्ट 97–98

(2) All INDIA RADIO 1996

(3) Doordarshan 1997 (Andience Research Unit, Directorate General Door Darshan)

(4) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 46वॉ अधिवेशन, बम्बई, सन् 1994 का प्रतिवेदन

(5) इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, (6) उत्तर प्रदेश साहित्य वार्षिकी

विशेष लेख

(1) कलम का सिपाही, अमृत राय

(2) रंगमंच, जयशकर प्रसाद

भाषण

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वृन्दावन अधिवेशन 1925 म पराड़कर जी द्वारा दिया गया भाषण

अन्य माध्यम

(1) आकाशवाणी

(2) दूरदर्शन

(3) इन्टरनेट – WWW 123 India Com

WWW Khoj Com

malaiya @cs colostate edu

पत्रिका एवं जर्नल

(1) सचार माध्यम, भारतीय जन सचार सस्थान (IIMS) दिल्ली की त्रैमासिकी

(2) हिन्दुस्तानी, हिन्दुसतानी एकेडमी का त्रैमासिक

(3) आजकल, दिल्ली

(4) श्रोता समाचार, इलाहाबाद

(5) कप्यूटर सचार सूचना

(6) योजना

(7) वागर्थ, भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता का मासिक

(8) भारतीय पत्रकार जगत, प्रेस काग्रेस आफ इण्डिया का प्रवक्ता मासिक

(9) "विदुर", भारतीय प्रेस संस्थान (Press Institute of India) का जर्नल

समाचार पत्र

दैनिक जागरण

स्वतत्र चेतना

राष्ट्रीय सहारा

दि मारेल (साप्ताहिक)

अमृत प्रभात

हिन्दुस्तान

परिशिष्ट (ख)

इन्टरनेट पर हिन्दी भापा एवं साहित्य

Brief History of Hindi: Hindi started to emerge as Apabhramsha in the 7th cent and by the 10 cent. became stable Several dialects of Hindi have been used in literature Braj was the popular literary dialect until it was replaced by khari boli in the 19th century

Background The period of Prakrits and Classical Sanskrit (dates are approximate)
750 BCE. Gradual emergence of post-vedic Sanskrit
500 BCE Prakrit texts of Buddhists and Jains originate (Eastern India)
400 BCE· Panini composes his Sanskrit grammar (Western India), reflecting transition from Vedic to Paninian Sanskrit
322 BCE Brahmi script inscriptions by Mauryas in Prakrit (Pali)
250 BCE Classical Sanskrit emerges [Vidhyanath Rao] 100 BCE-100 CE Sanskrit gradually replaces Prakrit in inscriptions
320: The Gupta or Siddha-matrika script emerges

Apabhranshas and emergence of old Hindi
400: Apabhransha in Kalidas's Vikramorvashiyam
550· Dharasena of Valabhi's inscription mentions Apabhramsha literature
779: Regional languages mentioned by Udyotan Suri in "Kuvalayamala"
769. Siddha Sarahpad composes Dohakosh, considered the first Hindi poet
800· Bulk of the Sanskrit literature after this time is commentaries [Vidhyanath Rao]
933· Shravakachar of Devasena, considered the first Hindi book
1100: Modern Devanagari script emerges
1145-1229: Hemachadra writes on Apabhransha grammar

Decline of Apabhransha and emergence of modern Hindi
1283 Khusro's pahelis and mukaris Uses term "Hindavi"
1398-1518· Kabir's works mark origin of "Nirguna-Bhaki" period
1370- Love-story period originated by "Hansavali" of Asahat
1400-1479 Raighu last of the great Apabhramsha poets
1450· "Saguna Bhakti" period starts with Ramananda
1580. Early Dakkhini work "Kalmitul-hakayat" of Burhanuddin Janam
1585 "Bhaktamal" of Nabhadas an account of Hindi Bhakta-poets
1601· "Ardha-Kathanak" by Banarasidas, first autobiography in Hindi
1604. "Adi-Granth" a compilation of works of many poets by Guru Arjan Dev
1532-1623 Tulsidas, author of "Ramacharita Manasa"
1623: "Gora-badal ki katha" of Jatmal, first book in Khari Boli dialect (now the standard dialect)
1643· "Reeti" poetry tradition commences according to Ramchandra Shukla
1645· Shahjehan builds Delhi fort, language in the locality starts to be termed Urdu.
1667-1707 Vali's compositions become popular, Urdu starts replacing Farsi among Delhi nobility
It is often called "Hindi" by Sauda, Meer etc

Modern Hindi literature emerges·
1805· Lalloo Lal's Premsagar published for Fort William College, Calcutta [Daisy Rockwell]
1813-46: Maharaja Swati Tirunal Rama Varma(Travancore) composed verses in Hindi along with South Indian languages
1826: "Udanta Martanda" Hindi weekly from Calcutta
1837: Phullori, author of "Om Jai Jagdish Hare" born
1839,1847 "History of Hindi Literature" by Garcin de Tassy in French [Daisy Rockwell]
1833-86. Gujarati Poet Narmad proposed Hindi as India's national language
1850· The term "Hindi" no longer used for what is now called "Urdu"
1854 "Samachar Sudhavarshan" Hindi daily from Calcutta
1873. Mahendra Bhattachary's "Padarth-vigyan" (Chemistry) in Hindi
1877 Novel "Bhagyavati" by Shraddharam Phullori
1886. "Bharatendu period" of modern Hindi literature starts
1893 Founding of the Nagari Pracharini Sabha in Benares [Daisy Rockwell] 1900. "Dwivedi period" starts Nationalist writings
1900: "Indumati" story by Kishorilal Goswami in "Sarasvati"
1913. "Raja Harishchandra", first Hindi movie by Dadasaheb Phalke

1918-1938 "Chhayavad period"
1918 "Dakshin Bharat Hindi Prachara Sabha" founded by Gandhi
1929. "History of Hindi Literature" by Ramchandra Shukla
1931 "Alam Ara" first Hindi talking movie
1930's Hindi typewriters ("Nagari lekhan Yantra")[Shailendra Mehta]

Our age
1949 Official Language Act makes the use of Hindi in Central Government Offices mandatory
1950 Hindi accepted as the "official language of the Union" in the constitution
1952 The Basic Principles Committee of the Constituent Assembly of Pakistan recommends that Urdu be the state language
1965. Opposition to "Hindi-imposition" in Tamilnadu brings DMK to power
1975: English medium private schools start asserting themselves socially, politically, financially [Peter Hook]
198?. Hindi word processors appears
1987-88 Frans Velthuis creates Devanagari metafont [Shailendra Mehta]
1990. According to World Almanac and Book of Facts Hindi-Urdu has passed English (and Spanish) to become the second most widely spoken language in the world [Peter Hook]
1991: ITRANS encoding scheme developed by Avinash Chopde allows Hindi documents in Roman and Devanagari on the Internet.
1995 Movie "Hum Aapke Hain Kaun" biggest grosser ever
1997 Prime Minister Deve Gowda emphasises promotion of Hindi and the regional languages having himself learned Hindi recently.
1997 Hindi Newspaper Nai Dunia on the web (January) *(Or was Milap first?)*
1998: Karunanithi, the DMK leader, recites a Hindi verse during a political campaign, indicating a change in views
1998 Sonia Gandhi's Hindi lessons attract attention

Immortal Hindi authors and poets:

The Early period

The Siddhas: Sarahpa (Doha-kosh) B.769
The Suris.
Shalibhadra (Bhareshshvar-Bahubali Ras 1184)
Shridhar (Sukumala-chariu) 1151
Ramsinh (Doha Pahud)
Amarakirtigani (Chhakkamovaesa) 1190
Lakkhana ((anuvaya-rayana-paiu) 1256
The Nathas: Gorakhanath (13th c)
Rasos:
Chanda Bardai (Prathviraj Rasau) 12th c
Amir Khosrow 1253-1325

The Middle Period

Kabir 1398-1518
Vidyapati, Maithili Poet (14th c)
Raidas (1398-1448)
Malik Muhammad Jayasi (Padmavat) (1477 - 1542)
Mira Bai (1498-1547)
Surdas (Sursagar) (1483-1563) 1, 2 3
Dadu Dayal (1544-1603)
Tulsidas. 1 2, 3, (Ramcharitamanas) d 1623, Hanuman Chalisa, stuti (ps) Sundara Kanda
Rahim (1556-1627)
Keshavadas (1565-1617)
Banarasidas (Ardha-kathanak) (1586-1643)
Rasakhan (1533-1618)
Girdhar
Padmakar
Ibrahim Adil Shah d 1618
Bhushana (1613-1712)
Bihari (Sat Sai) (1595-1663)

Guru Gobind Singh Dehi
Shiva (audio) (1666-1708)
Dyanatrai (1676-1726)
Anandaghan(1660-1730)
Bhudhardas (1693-1749)
Vali Dakkhani (1667-1707)
Khwaja Mir Dard d 1785

The Modern Period

Zafar (1775-1862)
Mirza Ghalib (1797-1869)
12 3
Meer Taqi Meer 1 2 (1722-1808)
Daulatram (1798-1866)

Bhagat Singh
Dharmaveer Bharati
Firaq Gorakhpuri
Faiz Ahmad Faiz
Amritlal Nagar
Suryakant Tripathi "Nir.
1962, Veena Vaadini Tr
Maithilisharan Gupta -1
Sahir Ludhiyanavi 1921
Yashpal
Mahadevi Verma, 1907
Rahul Sankratyayana
Upendranath Ashk 191(
Rajendra Yadav 1929- (
Rahi Masoom Raza
Ramdhari Singh 'Dinkar
Shakeel Badayuni
Harivansh Rai Bachchar
Madhushaala
Kaka Hathrasi -1995
Shivani

Manohar Shyam Joshi (
Narendra Kohli
Javed Akhtar

General Sources
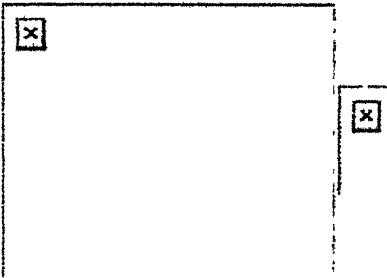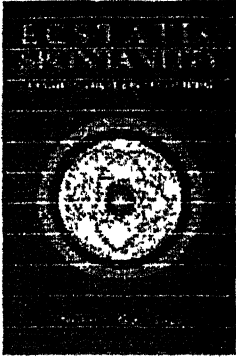
Herbert Guenther

Ecstatic Spontaneity

SARAHA'S THREE CYLCES OF DOHA

Berkeley Asian Humanities Press, 1993
$25 paper

As is so often the case with major religious figures in the history of India, almost nothing factual is known of the sage Saraha Yet to judge by the frequency with which his work is cited and the extent to which his style has been imitated there is no denying that he was of immense importance for the mystic philosophers and poets of Tibet as well as for certain thinkers in India For Saraha, the spontaneity that marks lived experience, which in turn is inseparable from the living body, is felt as an ecstasy that draws us beyond the confines of the mental and the material

In this volume, Saraha's *Doha;* trilogy is presented with a contemporary interpretation, along with a complete, annotated translation

> "Herbert Guenther is a scholar and translator of the first order, one who is a master not only of the syntactic aspects of his subject, but also of the semantic ground from which it flows "
>
> - Allan Combs

Herbert Guenther is Professor Emeritus of Far Eastern Studies at the University of Saskatchewan

 NANZAN INSTITUTE HOMEPAGE

It is through Bachchan's poems that I started liking and enjoying hindi poetry. I just chanced upon his book Madhushala one day and that started me off, and he is still my favourite poet. Hence, its natural that you will find the maximum entries in this area.

- Mujhe Pukaar Lo
- Kahte Hain Taare Gaate Hain
- Prateeksha
- Madhushala
- Andhere Kaa Deepak
- Jugnoo
- Is Paar Us Paar
- Yatra Aur Yatri
- Lo Din Bitaa, Lo Raat Gayi
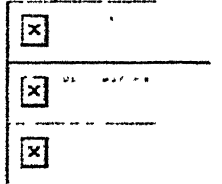
Complete listing of poems in
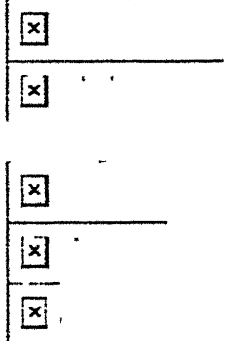
EMail : kaavyaalaya a manaskriti com

कहते हैं तारे गाते हैं

- बच्चन

कहते हैं तारे गाते हैं !
सन्नाटा वसुधा पर छाया,
नभ में हमने कान लगाया,
फिर भी अगणित कंठों का यह राग नहीं हम सुन पाते हैं !
कहते हैं तारे गाते हैं !

स्वर्ग सुना करता यह गाना,
पृथिवी ने तो बस यह जाना,
अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आँसू आते हैं !
कहते हैं तारे गाते हैं !

ऊपर देव तले मानवगण,
नभ में दोनों गायन-रोदन,
राग सदा ऊपर को उठता, आँसू नीचे झर जाते हैं !
कहते हैं तारे गाते हैं !

मेरे दीपक

- महादेवी वर्मा

मधुर मधुर मेरे दीपक जल ।
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर ।

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल-गल ।
पुलक - पुलक मेरे दीपक जल ।

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला - कण;
विश्वशलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझमें मिल' ।
सिहर - सिहर मेरे दीपक जल ।

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक;
जलमय सागर का उर जलता;
विद्युत ले घिरता है बादल ।
विहँस - विहँस मेरे दीपक जल ।

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम;
वसुधा के जड़ अंतर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल।
बिखर - बिखर मेरे दीपक जल ।

मेरे निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल ।
सहज - सहज मेरे दीपक जल ।

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोशों से -
तुझमें भरती हूँ आँसू - जल ।
सजल - सजल मेरे दीपक जल।

तम असीम तेरा प्रकाश चिर;
खेलेंगे नव खेल निरंतर;
तम के अणु - अणु में विद्युत सा -
अमिट चित्र अंकित करता चल ।
सरल - सरल मेरे दीपक जल।

तू जल जल होता जितना क्षय,
यह समीप आता छलनामय;
मधुर मिलन में मिट जाना तू -
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल - खिल ।
मदिर - मदिर मेरे दीपक जल ।

प्रियतम का पथ आलोकित कर !